

Chapter चार

सृष्टि का प्रक्रम

सूत उवाच

वैयासकेरिति वचस्तत्त्व-निश्चयमात्मनः ।

उपधार्य मतिं कृष्णे औत्तरेयः सतीं व्यधात् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; वैयासकेः—शुकदेव गोस्वामी के; इति—इस प्रकार; वचः—शब्द; तत्त्व-निश्चयम्—सत्य की पुष्टि करनेवाले; आत्मनः—अपने में; उपधार्य—ठीक से समझ करके; मतिम्—मन की एकाग्रता; कृष्णे—कृष्ण के प्रति; औत्तरेयः—उत्तरा के पुत्र ने; सतीम्—संयत, निष्ठावान; व्यधात्—लगाया ।

सूत गोस्वामी ने कहा : शुकदेव गोस्वामी से आत्मा के सत्य के विषय में बातें सुनकर, उत्तरा के पुत्र महाराज परीक्षित ने आस्थापूर्वक अपना ध्यान भगवान् कृष्ण में लगा दिया ।

तात्पर्य : सतीम् शब्द अत्यन्त सार्थक है। इसके दो अर्थ हैं 'निष्ठावान' तथा 'संयत'। ये दोनों ही आशय महाराज परीक्षित पर पूर्ण रूप से लागू होते हैं। सारा वैदिक अध्यवसाय मनुष्य के ध्यान को पूर्णतः भगवान् कृष्ण के चरणकमलों की ओर आकृष्ट करना है, जैसाकि *भगवद्गीता* (१५.१५) में निर्दिष्ट है। सौभाग्यवश महाराज परीक्षित अपनी माता के गर्भ में अपना शरीर धारण करके प्रारम्भ से ही भगवान् के प्रति आकृष्ट हो चुके थे। जब वे अपनी माता के गर्भ में थे तभी अश्वत्थामा द्वारा छोड़े गये ब्रह्मास्त्र या परमाणु बम से उन पर प्रहार हुआ था किन्तु भगवत्कृपा, से वे उस अग्नि-अस्त्र से जलने से बच गये थे। तबसे ही उन्होंने अपना मन भगवान् कृष्ण पर एकाग्र कर रखा था जिससे वे भक्ति में पूर्ण रूप से संयत हो गये। अतएव स्वाभाविक रूप से वे भगवान् के संयत शुद्ध भक्त थे तथा जब उन्होंने श्रील शुकदेव गोस्वामी से सुना कि उन्हें भगवान् के अतिरिक्त अन्य किसी की पूजा नहीं करनी चाहिए, चाहे सकाम भाव से हो या निष्काम भाव से, तो कृष्ण के प्रति उनका सहज प्रेम और भी दृढ़ हो गया। हम इन विषयों को पहले ही बता चुके हैं।

भगवान् कृष्ण का शुद्ध भक्त बनने के लिए दो बातें अत्यावश्यक हैं—भक्त-कुल में जन्म लेना तथा प्रामाणिक गुरु का आशीष प्राप्त होना। भगवान् कृष्ण की कृपा से महाराज परीक्षित को ये दोनों सुअवसर प्राप्त थे। वे पाण्डवों-जैसे भक्त कुल में उत्पन्न हुए थे और भगवान् ने पाण्डव वंश को बनाये रखने तथा उन पर विशेष कृपा दिखाने के कारण ही महाराज परीक्षित को बचा लिया था जिन्हें बाद में

ब्राह्मण बालक ने शाप दिया और फिर शुकदेव गोस्वामी जैसे गुरु का सान्निध्य प्राप्त हो सका। चैतन्य-चरितामृत में कहा गया है कि गुरु तथा भगवान् कृष्ण की कृपा से भाग्यशाली व्यक्ति को ही भक्ति का मार्ग प्राप्त होता है। यह महाराज परीक्षित पर पूरी तरह लागू होता है। भक्त कुल में जन्म लेने के कारण वे स्वतः कृष्ण के सम्पर्क में आ सके और इस तरह सम्पर्क में रहने से वे भगवान् का निरन्तर स्मरण करते रहे। फलस्वरूप भगवान् कृष्ण ने उन्हें भगवान् के सर्वोच्च भक्त तथा आत्मज्ञान में पूर्ण शुकदेव गोस्वामी से परिचित कराकर भक्ति का विकास करने के लिए आगे भी अवसर प्रदान किया। कालक्रम से प्रामाणिक गुरु से श्रवण करके वे अपने शुद्ध मन को भगवान् कृष्ण पर एकाग्र कर सके।

आत्म-जाया-सुतागार-पशु-द्रविण-बन्धुषु ।

राज्ये चाविकले नित्यं विरूढां ममतां जहौ ॥ २ ॥

शब्दार्थ

आत्म—शरीर; जाया—पत्नी; सुत—पुत्र; आगार—महल; पशु—हाथी घोड़े; द्रविण—खजाना; बन्धुषु—मित्रों तथा सम्बन्धियों में; राज्ये—राज्य में; च—भी; अविकले—अविचल, निष्कंटक; नित्यम्—निरन्तर; विरूढाम्—गहरी; ममताम्—ममता, लगाव; जहौ—त्याग दिया।

भगवान् कृष्ण के प्रति एकनिष्ठ आकर्षण के फलस्वरूप महाराज परीक्षित ने अपने निजी शरीर, अपनी पत्नी, अपनी सन्तान, अपने महल, अपने पशु, हाथी-घोड़े, अपने खजाने, मित्र तथा सम्बन्धी और अपने निष्कंटक राज्य के प्रति प्रगाढ़ ममता त्याग दी।

तात्पर्य : मुक्त होने का अर्थ है देहात्मबुद्धि से स्वतन्त्र होना, जो निजी शारीरिक आवरणों तथा शरीर से सम्बद्ध प्रत्येक वस्तु तथा पत्नी, सन्तान और अन्य सारी झंझटों के प्रति भ्रामक आसक्ति है। मनुष्य अपने शारीरिक आराम के लिए पत्नी का चयन करता है और इसका परिणाम होता है सन्तान का जन्म। पत्नी तथा सन्तान के लिए निवासस्थान की आवश्यकता होती है और इस तरह घर बनाने की आवश्यकता पड़ती है। घोड़े, हाथी, गाय तथा कुत्ते—ये सब घरेलू पशु हैं और गृहस्थ को गृहस्थी सामान के तौर पर इन सबों को रखना होता है। आधुनिक सभ्यता में घोड़ों तथा हाथियों का स्थान पर्याप्त शक्तिशाली कारों तथा वाहनों ने ले लिया है। गृहस्थी चलाने के लिए मनुष्य को अपनी बैंक-पूँजी बढ़ानी पड़ती है और खजाने के विषय में सतर्क रहना होता है। भौतिक सम्पत्ति के ऐश्वर्य-प्रदर्शन के लिए मनुष्य को अपने मित्रों तथा सम्बन्धियों के साथ अच्छे सम्बन्ध बनाये रखना होता है और साथ

ही अपनी पूर्वस्थिति सँभालनी होती है। इसे भौतिक आसक्ति की भौतिक सभ्यता कहते हैं। भगवान् की भक्ति का अर्थ है समस्त भौतिक आसक्तियों का निषेध, जिनका ऊपर विस्तार से वर्णन हुआ है। भगवान् की कृपा से, महाराज परीक्षित को सारी भौतिक सुविधाएँ तथा अकंटक राज्य प्राप्त था जिससे वे राजा की अवचल स्थिति को भोग सकते थे, लेकिन भगवत्कृपा से उन्होंने भौतिक आसक्ति से सारे सम्बन्ध तोड़ लिये। विशुद्ध भक्त की ऐसी ही स्थिति होती है। भगवान् के भक्त तथा उनके प्रति सहज प्रेम होने के कारण महाराज परीक्षित भगवान् की ओर से राज्य का कालि सँभाले थे और उत्तरदायी राजा की भाँति वे सतर्क थे कि उनके राज्य में कलियुग का प्रवेश न हो पाये। भगवद्भक्त कभी भी अपने घर की वस्तुओं को अपना नहीं मानता, अपितु प्रत्येक वस्तु को वह भगवान् की सेवा में समर्पित कर देता है। फलस्वरूप, भक्त की देखरेख में जीवों को ईश-अनुभूति का अवसर प्राप्त होता है।

घरेलू वस्तुओं के प्रति आसक्ति तथा भगवान् कृष्ण के प्रति आसक्तिका साथ-साथ चल पाना असंभव है। एक आसक्ति अंधकार का मार्ग है, तो दूसरी आसक्ति प्रकाश का मार्ग है। जहाँ प्रकाश होता है, वहाँ अंधकार नहीं रहता और जहाँ अंधकार है, वहाँ प्रकाश नहीं रहता। किन्तु पटुभक्त भगवान् के प्रति भक्तिभाव से हरवस्तु को प्रकाश के मार्ग की ओर मोड़ सकता है और इसका श्रेष्ठ उदाहरण पाण्डव हैं। महाराज युधिष्ठिर तथा उन्हीं की तरह के सारे गृहस्थ अपनी सारी तथाकथित भौतिक सम्पत्ति को भगवान् की सेवा से जोड़कर हर वस्तु को प्रकाश की ओर मोड़ सकते हैं, किन्तु जो प्रशिक्षित नहीं है अथवा हर वस्तु को भगवान् की सेवा में नहीं लगा सकता (*निर्बन्धः कृष्णसम्बन्धे*) उसे सारे भौतिक सम्बन्धों का परित्याग कर देना चाहिए। तभी वह भगवान् की महिमा के श्रवण तथा कीर्तन का पात्र बन सकता है। दूसरे शब्दों में, जिसने महाराज परीक्षित की भाँति शुकदेव गोस्वामी जैसे योग्य व्यक्ति से *श्रीमद्भागवत* का एक दिन भी निष्ठापूर्वक श्रवण किया है, वह भौतिक वस्तुओं के प्रति सारी ममता को छोड़ने में समर्थ होता है। महाराज परीक्षित का अनुकरण मात्र करने और पेशेवर व्यक्ति से *श्रीमद्भागवत* का सात सौ वर्षों तक भी श्रवण करने से कोई लाभ नहीं हो सकता। *श्रीमद्भागवत* को पारिवारिक खर्च चलाने के लिए साधन बनाना भगवान् के चरणों पर सबसे भोंड़ा नामापराध है (*सर्वशुभक्रियासाम्यमपि प्रमादः*)।

पप्रच्छ चेममेवार्थं यन्मां पृच्छथ सत्तमाः ।

कृष्णानुभाव-श्रवणे श्रद्धधानो महा-मनाः ॥ ३ ॥

संस्थां विज्ञाय सत्र्यस्य कर्म त्रै-वर्गिकं च यत् ।

वासुदेवे भगवति आत्म-भावं दृढं गतः ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

पप्रच्छ—पूछा; च—भी; इमम्—यह; एव—इसी तरह; अर्थम्—प्रयोजन; यत्—जो; माम्—मुझसे; पृच्छथ—आप पूछते हैं; सत्तमाः—हे महर्षियो; कृष्ण-अनुभाव—कृष्ण के विचार में लीन; श्रवणे—सुनने में; श्रद्धधानः—श्रद्धा से पूर्ण; महा-मनाः—महात्मा; संस्थाम्—मृत्यु; विज्ञाय—जानकर; सत्र्यस्य—त्याग कर; कर्म—सकाम कर्म; त्रै-वर्गिकम्—धर्म, अर्थ तथा काम नामक तीन सिद्धान्त; च—भी; यत्—जो भी हो; वासुदेवे—भगवान् कृष्ण में; भगवति—भगवान्; आत्म-भावम्—प्रेम का आकर्षण; दृढम्—ठीक से स्थिर; गतः—प्राप्त किया ।

हे महर्षियो, महात्मा महाराज परीक्षित ने भगवान् कृष्ण के विचार में निरन्तर लीन रहते हुए, अपनी मृत्यु को आसन्न जानकर, सारे सकाम कर्म अर्थात् धर्म के कार्य, आर्थिक विकास तथा इन्द्रिय तृप्ति त्याग दिए और कृष्ण के लिए सहज प्रेम में अपने को दृढ़ता से स्थिर कर लिया। तब उन्होंने इन सारे प्रश्नों को उसी तरह पूछा जिस तरह तुम सब मुझसे पूछ रहे हो।

तात्पर्य : इस संसार में जीवन-संघर्ष में रत बद्धजिवों के लिए सामान्यतया धर्म, आर्थिक विकास तथा इन्द्रिय तृप्ति—ये तीन कर्म आकर्षक होते हैं। वेदों में बताये गये ऐसे नियमित कार्यकलाप जीवन की कर्म-काण्डीय धारणा कहलाते हैं और सामान्य रूप से गृहस्थों से कहा जाता है कि इस जीवन में तथा अगले जीवन में भौतिक सम्पन्नता भोगने के लिए इन नियमों का पालन करें। अधिकांश लोग ऐसे कार्यकलापों के प्रति आकृष्ट होते हैं। यहाँ तक कि आधुनिक ईश्वरविहीन सभ्यता के कार्यकलापों में भी लोग धार्मिक भावना के बिना ही आर्थिक विकास तथा इन्द्रिय तृप्ति के विषय में अधिक चिन्तित रहते हैं। महाराज परीक्षित को चक्रवर्ती सम्राट होने के नाते वैदिक कर्मकाण्डीय अनुभाग के ऐसे विधि-विधानों का पालन करना अनिवार्य था, लेकिन शुकदेव गोस्वामी की संगति मात्र से वे यह भलीभाँति जान सके कि भगवान् श्रीकृष्ण (वासुदेव) ही सर्वेसर्वा हैं, जिनके प्रति उन्हें अपने जन्म से ही सहज प्रेम था। इस प्रकार उन्होंने समस्त वैदिक कर्मकाण्डीय कार्यों को त्याग कर भगवान् पर अपना मन स्थिर कर लिया। यह सिद्धि-अवस्था ज्ञानियों को कई जन्मों के बाद प्राप्त हो पाती है। मुक्ति के लिए प्रयत्नशील ये ज्ञानी सकाम कर्मियों से हजार गुना अच्छे हैं और ऐसे लाखों ज्ञानियों में कोई एक वास्तव में मुक्त हो पाता है। ऐसे लाखों मुक्त व्यक्तियों में से विरला ही कोई एक ऐसा होता

है, जो भगवान् के चरणकमलों में अपने मन को स्थिर कर पाता है जैसाकि भगवान् ने स्वयं *भगवद्गीता* (७.१९) में घोषित किया है। महाराज परीक्षित को विशेष रूप से *महामनाः* शब्द से विभूषित किया गया है, जो उन्हें *भगवद्गीता* में वर्णित महात्माओं के समान बना देता है। बाद के युगों में भी इस तरह के अनेक महात्मा हुए हैं। वे भी जीवन की समस्त कर्मकाण्डीय धारणाओं का परित्याग करके भगवान् पर पूर्ण-रूपेण आश्रित रहे। भगवान् चैतन्य ने, जो साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं, *शिक्षाष्टक* (८) में शिक्षा दी है—

आश्लिष्य वा पादरतां पिनष्टु मामदर्शनान् मर्महतां करोतु वा ।

यथा तथा वा विदधातु लम्पटो मत्प्राणनाथस्तु स एव नापरः ॥

“अनेक भक्तों (स्त्रियों) के प्रेमी भगवान् कृष्ण, चाहे मुझ शरणागत दासी का आलिंगन करें, या अपने पाँवों के नीचे रौंद दें, या मेरे समक्ष दीर्घकाल तक प्रकट न होकर मेरे हृदय को भग्न कर दें, तो भी वे मेरे हृदय के परमेश्वर हैं।”

श्रील रूप गोस्वामी ने इस प्रकार कहा है—

विरचय मयि दण्डं दीनबन्धो दयामी वा

गतिरिह न भवत्तः काचिदन्या ममास्ति ।

निपततु शतकोटिनिर्भरं वा नवाम्भः

तदपि किलपयोदः स्तूयते चातकेन ॥

“हे दीनों के स्वामी! आप जैसा चाहें मेरे साथ करें। चाहे आप दया दिखायें या दण्ड दें, लेकिन इस जगत में आपके अतिरिक्त अन्य कोई नहीं जिसको मैं निहारूँ। चातक पक्षी सदैव बादल से प्रार्थना करता है, चाहे वह वृष्टि करे या वज्र गिरा दे।”

श्री भगवान् चैतन्य के दादागुरु, श्रील माधवेन्द्रपुरी, ने निम्नलिखित शब्दों के साथ समस्त कर्मकाण्डीय उत्तरदायित्वों से छुट्टी पा ली थी।

सन्ध्यावन्दन भद्रमस्तु भवतो भोः स्नान तुभ्यं नमो

भो देवाः पितरश्च तर्पणविधौ नाहं क्षमः क्षम्यताम् ।

यत्र क्वापि निषद्य यादवकुलोत्तमस्य कंसद्विषः

स्मारं स्मारमघं हरामि तदलं मन्ये किमन्येन मे ॥

“हे सन्ध्यावन्दन! तुम्हारा कल्याण हो। हे प्रातःस्नान! मैं तुम्हें अन्तिम नमस्कार करता हूँ। हे देवो तथा पितरो! आप मुझे क्षमा करें। मैं आपकी प्रसन्नता के लिए और अधिक अर्पण करने में अक्षम हूँ। अब मैंने महान् यदुवंशी तथा कंस के महान् शत्रु (भगवान् श्रीकृष्ण) को सर्वत्र स्मरण करते हुए, अपने समस्त पापों के फलों से अपने को मुक्त करने का निश्चय किया है। मैं सोचता हूँ कि यही मेरे लिए पर्याप्त है। अतएव अब आगे प्रयास करने से क्या लाभ ?”

श्रील माधवेन्द्रपुरी ने आगे कहा है—

मुग्धं मां निगदन्तु नीतिनिपुणा भ्रान्तं मुहुर्वैदिकाः

मन्दं बान्धवसञ्चया जडधियं मुक्तादराः सोदराः ।

उन्मत्तं धनिनो विवेकचतुराः कामम् महादाम्भिकम्

मोक्तुं न क्षामते मनागपि मनो गोविन्दपादस्पृहाम् ॥

“ भले ही नीतिनिपुण लोग मुझे पर भ्रमित होने का दोषारोपण करें, किन्तु मुझे इसकी परवाह नहीं है। वैदिक कर्मों में पटु लोग मुझे पथभ्रष्ट कह लें, मेरे मित्र तथा सम्बन्धी मुझे हताश कहें, मेरे भाई मुझे मूर्ख कहें और धनवान लोग मुझे पागल कहकर अँगुली उठायेँ और विद्वान दार्शनिक भले ही मुझे अतीव दम्भी कहें, तो भी मेरा मन गोविन्द के चरणकमलों की सेवा के संकल्प से रंचमात्र भी नहीं हटता यद्यपि मैं ऐसा कर पाने में असमर्थ हूँ।”

और प्रह्लाद महाराज ने भी कहा है—

धर्मार्थकाम इति योऽभिहितस्त्रिवर्ग

ईक्षा त्रयी नयदमौ विविधा च वार्ता ।

मन्ये तदेतद् अखिलं निगमस्य सत्यं

स्वात्मार्पणं स्वसुहृदः परमस्य पुंसः ॥

“मोक्ष पथ प्राप्त करने के तीन उपाय माने गये हैं—धर्म, अर्थ तथा काम। इनमें से विशेष रूप से इच्छात्रयी—आत्मज्ञान, सकाम कर्म का ज्ञान, तर्क तथा राजनीति एवं अर्थशास्त्र—जीविका के विभिन्न साधन हैं। ये सब वैदिक शिक्षा के विभिन्न विषय हैं, अतएव मैं इन्हें क्षणिक गतिविधियाँ मानता हूँ। इसके विपरीत, भगवान् विष्णु की शरणागति जीवन का वास्तविक लाभ है और मैं इसे परम सत्य मानता हूँ।” (भागवत ७.६.२६)

भगवद्गीता (२.४१) में इस सारे विषय को व्यवसायात्मिका बुद्धि के रूप में या सिद्धि के परम पथ के रूप में माना गया है। महान् वैष्णव विद्वान् श्री बलदेव विद्याभूषण ने इसकी परिभाषा भगवद्-अर्चना-रूपैक-निष्काम-कर्मभिर्विशुद्धचित्तः के रूप में दी है अर्थात् सकाम कर्मफल से मुक्त होकर भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति को मूल कर्तव्य समझना।

अतएव महाराज परीक्षित बिल्कुल सही थे जब उन्होंने जीवन की समस्त कर्मकाण्डीय धारणाओं को त्यागकर भगवान् के चरणकमलों को दृढ़ता से अपना लिया।

राजोवाच

समीचीनं वचो ब्रह्मन् सर्व-ज्ञस्य तवानघ ।

तमो विशीर्यते मह्यं हरेः कथयतः कथाम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

राजा उवाच—राजा ने कहा; समीचीनम्—सर्वथा उचित; वचः—वाणी; ब्रह्मन्—हे विद्वान् ब्राह्मण; सर्व-ज्ञस्य—सब कुछ जाननेवाले का; तव—तुम्हारा; अनघ—निष्पाप; तमः—अज्ञान का अंधकार; विशीर्यते—क्रमशः लुप्त हो रहा है; मह्यम्—मेरे लिए; हरेः—भगवान् की; कथयतः—जिस तरह आप कह रहे हैं; कथाम्—कथा।

महाराज परीक्षित ने कहा : हे विद्वान् ब्राह्मण, आप भौतिक दूषण से रहित होने के कारण सब कुछ जानते हैं, अतएव आपने मुझसे जो भी कहा है, वह मुझे पूर्ण रूप से उचित प्रतीत होता है। आपकी बातें क्रमशः मेरे अज्ञानरूपी अंधकार को दूर कर रही हैं, क्योंकि आप भगवान् की कथाएँ कह रहे हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर महाराज परीक्षित के व्यावहारिक अनुभव का उद्घाटन हुआ है, जिससे पता

चलता है कि भगवान् की दिव्य कथाएँ जब भौतिकता से रहित व्यक्ति से एक निष्ठावान भक्त को प्राप्त होती हैं, तो वे इंजेक्शन के समान प्रभाव दिखलाती हैं। दूसरे शब्दों में, जब पेशेवर लोगों से *श्रीमद्भागवत* की कथाएँ कर्मकाण्डी श्रोता द्वारा सुनी जाती हैं, तो वे ऊपर कहे गये चामत्कारिक ढंग से कार्य नहीं करतीं। भगवान् की कथाओं का भक्तिमय श्रवण सामान्य वार्ताओं के सुनने जैसा नहीं है, अतएव निष्ठावान श्रोता द्वारा इसका प्रभाव तभी अनुभव किया जायेगा जब अज्ञान का क्रमशः तिरोधान हो।

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।

तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥

(श्वेताश्वतर उपनिषद् ६.२३)

जब भूखे व्यक्ति को भोजन दिया जाता है, तो उसकी भूख शान्त होती है और साथ ही भोजन करने का आनन्द प्राप्त होता है। इस तरह उसे यह पूछने की आवश्यकता नहीं रह जाती कि वास्तव में उसे भोजन मिला है या नहीं। *श्रीमद्भागवत* के सुनने की अग्नि परीक्षा यह है कि मनुष्य को निश्चयात्मक प्रकाश प्राप्त हुआ या नहीं।

भूय एव विवित्सामि भगवानात्म-मायया ।

यथेदं सृजते विश्वं दुर्विभाव्यमधीश्वरैः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

भूयः—फिर; एव—भी; विवित्सामि—मैं जानने का इच्छुक हूँ; भगवान्—भगवान्; आत्म—निजी; मायया—शक्तियों से; यथा—जिस तरह; इदम्—यह व्यवहार जगत; सृजते—सृजन करता है; विश्वम्—ब्रह्माण्ड को; दुर्विभाव्यम्—अचिन्त्य; अधीश्वरैः—महान् देवताओं द्वारा।

मैं आपसे यह जानना चाहता हूँ कि भगवान् किस प्रकार अपनी निजी शक्तियों से इस रूप में इन दृश्य ब्रह्माण्डों की सृष्टि करते हैं, जो बड़े से बड़े देवताओं के लिए भी अचिन्त्य हैं।

तात्पर्य : प्रत्येक जिज्ञासु मन में इस दृश्य जगत की सृष्टि का महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठता रहता है। अतएव महाराज परीक्षित जैसे व्यक्ति के द्वारा इस तरह का प्रश्न असामान्य नहीं है, क्योंकि उन्हें अपने गुरु से भगवान् के सारे कार्यकलाप समझने थे। हमें प्रत्येक अपरिचित वस्तु को

किसी विद्वान से जानना तथा पूछना होता है। सृष्टि का प्रश्न भी ऐसा ही है, जिसे सही व्यक्ति से पूछना चाहिए। अतएव गुरु को ऐसा व्यक्ति होना चाहिए जो सर्वज्ञ हो, जैसाकि यहाँ पर शुकदेव गोस्वामी के विषय में कहा गया है। इस तरह ईश्वर सम्बन्धी ऐसे सारे प्रश्न जो शिष्य को ज्ञात न हों, योग्य गुरु से पूछे जाने चाहिए और यहाँ पर महाराज परीक्षित इसका व्यावहारिक उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं। किन्तु महाराज परीक्षित को यह पहले से ज्ञात था कि प्रत्येक दिखाई देने वाली वस्तु भगवान् की शक्ति से उत्पन्न होती है, जैसाकि हम *श्रीमद्भागवत* के प्रारम्भ में ही सीख चुके हैं (*जन्माद्यस्य यतः*)। अतः महाराज परीक्षित सृष्टि-रचना की प्रक्रिया जानना चाहते थे। उन्हें सृष्टि का उद्गम ज्ञात था अन्यथा वे यह प्रश्न कैसे कर सकते थे कि भगवान् ने अपनी विभिन्न शक्तियों से इस व्यवहार जगत की सृष्टि कैसे की? सामान्य व्यक्ति भी जानता है कि यह सृष्टि किसी स्रष्टा द्वारा बनाई गई है, स्वतः उत्पन्न नहीं हुई है। हमें संसार में ऐसा कोई अनुभव नहीं है जहाँ कोई वस्तु स्वतः उत्पन्न हुई हो। मूर्ख लोग कहते हैं कि सृजनात्मक शक्ति स्वतन्त्र है और उसी तरह स्वतःकार्यशील है, जिस तरह कि विद्युतशक्ति होती है। किन्तु बुद्धिमान व्यक्ति जानता है कि विद्युतशक्ति भी स्थानीय शक्तिघर में दक्ष इंजीनियर (शिल्पी) के निर्देन में उत्पन्न की जाती है और रेजिडेन्ट इंजीनियर के निरीक्षण में सर्वत्र वितरित की जाती है। सृष्टि के सम्बन्ध में भगवान् की अध्यक्षता का वर्णन *भगवद्गीता* (९.१०) में भी मिलता है और वहाँ पर यह स्पष्ट उल्लेख है कि भौतिक शक्ति परमेश्वर की ऐसी अनेक शक्तियों में से एक का प्राकट्य है (*परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते*)। एक अनुभवशून्य बालक इलेक्ट्रानिकी के निराकार कार्यकलापों को देखकर या विद्युत शक्ति से सम्बन्धित अनेक आश्चर्यजनक वस्तुओं को देखकर आश्चर्यचकित हो सकता है, लेकिन एक अनुभवी व्यक्ति जानता है कि इन कार्यों के पीछे एक सजीव व्यक्ति रहता है, जो ऐसी शक्ति उत्पन्न करता है। इसी प्रकार संसार के तथाकथित विद्वान तथा विचारक अपने-अपने मानसिक चिन्तन द्वारा ब्रह्माण्ड की निराकार सृष्टि के विषय में अनेक स्वप्नदर्शी सिद्धान्त प्रस्तुत कर सकते हैं, किन्तु एक बुद्धिमान भगवद्भक्त *भगवद्गीता* का अध्ययन करके जान सकता है कि

इस सृष्टि के पीछे परमेश्वर का हाथ है, ठीक उसी तरह जिस तरह विद्युत शक्तिघर के पीछे रेजिडेंट इंजीनियर का हाथ रहता है। एक शोधार्थी प्रत्येक वस्तु के कारण तथा कार्य को ढूँढ़ता है, किन्तु जब ब्रह्मा, शिव, इन्द्र तथा अन्य देवताओं जैसे बड़े-बड़े शोधार्थी कभी-कभी भगवान् की आश्चर्यजनक सृजनात्मक शक्ति देखकर भ्रमित हो जाते हैं, तो उन क्षुद्र संसारी शोधार्थियों का क्या कहा जाय जो क्षुद्र वस्तुओं में लगे रहते हैं? जिस तरह ब्रह्माण्ड में विभिन्न लोकों के रहन-सहन में अन्तर है और जिस तरह एक लोक दूसरे से श्रेष्ठ है, उसी तरह उन लोकों के निवासियों के मस्तिष्क भी विभिन्न कोटियों के हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है ब्रह्माजी के लोक के निवासियों की दीर्घ आयु, जो इस धरा लोक के निवासियों के लिए अचिन्त्य है, की तुलना ब्रह्माजी के मस्तिष्क की कोटि के मूल्य से की जा सकती है, जो इस लोक के किसी भी महान् विज्ञानी के लिए अचिन्त्य है। इतनी बड़ी मस्तिष्क शक्ति होने पर भी ब्रह्माजी ने अपनी महान् संहिता (*ब्रह्म-संहिता* ५.१) में इस प्रकार वर्णन किया है—

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्द विग्रहः ।

अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम् ॥

“ऐसे अनेक व्यक्ति हैं जिनमें भगवान् के गुण पाये जाते हैं, लेकिन उनमें कृष्ण सर्वोच्च हैं, क्योंकि कोई उनसे बढ़कर नहीं है। वे परम पुरुष हैं और उनका शरीर सच्चिदानन्द स्वरूप है। वे आदि भगवान् गोविन्द हैं और समस्त कारणों के कारण हैं।”

ब्रह्माजी भगवान् कृष्ण को समस्त कारणों का कारण स्वीकार करते हैं। लेकिन इस क्षुद्र धरालोक के अतिलघु मस्तिष्क वाले व्यक्ति भगवान् को अपने जैसा समझते हैं। इस प्रकार जब *भगवद्गीता* में भगवान् कहते हैं कि मैं सर्वेसर्वा हूँ तो ज्ञानी तथा संसारी विवादक उनका उपहास करते हैं जिससे भगवान् को अत्यन्त खेदपूर्वक कहना पड़ता है—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।

परं भावमजान्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥

“जब मैं मनुष्य रूप में अवतरित होता हूँ तो मूर्ख मेरा उपहास करते हैं। वे मेरी दिव्य प्रकृति को

और समस्त चराचर पर मेरे परम प्रभुत्व को नहीं जानते।” (*भगवद्गीता* ९.११)। ब्रह्मा तथा शिव (अन्य देवताओं की बात ही क्या) भूत हैं अर्थात् शक्तिमान उत्पन्न देवता हैं, जो विश्व के कार्यों को उसी तरह चलाते हैं, जिस तरह राजा द्वारा नियुक्त मन्त्री चलाते हैं। ये मन्त्री ईश्वर या नियन्त्रक हो सकते हैं, लेकिन परमेश्वर तो महेश्वर हैं अर्थात् इन नियंत्रकों के भी स्रष्टा हैं। अल्पज्ञ इसे नहीं जानते, अतएव वे भगवान् का खुला उपहास करते हैं, क्योंकि वे मनुष्यों पर यदाकदा अहैतुकी कृपा करके हमारे समक्ष मनुष्य रूप में प्रकट होते हैं। भगवान् मनुष्य की तरह नहीं हैं। वे *सचिदानन्द विग्रह* या पूर्ण परमेश्वर भगवान् हैं और उनके शरीर तथा उनकी आत्मा में कोई भेद नहीं है। वे शक्ति तथा शक्तिमान दोनों हैं।

महाराज परीक्षित ने अपने गुरु शुकदेव गोस्वामी से भगवान् कृष्ण की वृन्दावन लीलाओं का वर्णन करने के लिए नहीं कहा। वे सर्वप्रथम भगवान् की सृष्टि के विषय में सुनना चाह रहे थे। न ही शुकदेव गोस्वामी ने यह कहा कि राजा को भगवान् की दिव्य लीलाएँ सुननी चाहिए। चूँकि समय कम था, अतएव गोस्वामी चाहते तो सब बातों को छोड़कर सीधे दशम स्कंध में पहुँच जाते, जैसाकि पेशेवर वाचक करते हैं। लेकिन न तो राजा ने, न ही *श्रीमद्भागवत* के महान् वक्ता ने *भागवत* के प्रबन्धकों की भाँति उछल-कूद की। दोनों ही विधिपूर्वक आगे बढ़ते गये, जिससे भविष्य के श्रोता तथा वाचक दोनों ही *श्रीमद्भागवत* सुनाने की विधि से शिक्षा ग्रहण कर सकें। जो लोग भगवान् की बहिरंगा शक्ति के वश में हैं, अथवा दूसरे शब्दों में, जो लोग इस भौतिक जगत में हैं, उन्हें सर्वप्रथम यह जानना चाहिए कि भगवान् की बहिरंगा शक्ति किस तरह से परम पुरुष के निर्देशानुसार कार्य करती है। बाद में उनकी अन्तरंगा शक्ति के कार्यकलापों में वह प्रवेश कर सकता है। संसारी लोग अधिकांशतया कृष्ण की बहिरंगा शक्ति, दुर्गादेवी, के उपासक होते हैं, लेकिन वे यह नहीं जानते कि दुर्गादेवी भगवान् की शक्ति की छायामात्र हैं। उनकी चमत्कारी शक्ति के पीछे भगवान् का निर्देशन कार्य करता रहता है, जैसाकि *भगवद्गीता* (९.१०) में पुष्टि की गई है। *ब्रह्म-संहिता* इस बात की पुष्टि करती है कि दुर्गाशक्ति गोविन्द के निर्देशानुसार कार्य करती है और उनकी अनुमति के बिना शक्तिशालिनी दुर्गाशक्ति एक पत्नी भी नहीं हिला सकती। अतएव नवदीक्षित भक्त को चाहिए कि भगवान् की अन्तरंगा शक्ति द्वारा प्रस्तुत

की जानेवाली दिव्य लीलाओं में छलौंग न लगाकर, उनकी सृजनात्मक शक्ति की विधि के विषय में जिज्ञासा करते हुए जाने कि परमेश्वर कितने महान् हैं। *चैतन्य-चरितामृत* में भी सृजनात्मक शक्ति के वर्णन की और उसमें भगवान् के हाथ के होने की व्याख्या की गई है और *चैतन्य-चरितामृत* के रचयिता नवदीक्षित भक्तों को आगाह करते हैं कि वे कृष्ण की महानता विषयक इस ज्ञान की उपेक्षा करके गड्डे में न गिरें। कृष्ण की महानता को जान लेने के बाद ही कोई उन पर अविचल विश्वास कर सकता है अन्यथा लोगों के महान् नेता भी सामान्य लोगों की तरह भगवान् कृष्ण को अनेक देवताओं में से एक या कोई ऐतिहासिक व्यक्ति या कोरी कपोलकल्पना मानने की भूल करेंगे। भगवान् की वृन्दावन या द्वारका की दिव्य लीलाएँ उन्हीं व्यक्तियों द्वारा आस्वाद्य हैं, जिन्होंने पहले से अपने को उच्च आध्यात्मिक बारीकियों से अवगत करा लिया है। सामान्य व्यक्ति ऐसे स्तर को सेवा तथा जिज्ञासा की क्रमिक विधि से प्राप्त करता है, जैसाकि हम महाराज परीक्षित के आचरण से देखेंगे।

यथा गोपायति विभुर्यथा संयच्छते पुनः ।

यां यां शक्तिमुपाश्रित्य पुरु-शक्तिः परः पुमान् ।

आत्मानं क्रीडयन् क्रीडन् करोति विकरोति च ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; गोपायति—पालन करता है; विभुः—महान्; यथा—जिस तरह; संयच्छते—समेट लेता है; पुनः—फिर; याम् याम्—जैसे-जैसे; शक्तिम्—शक्तियाँ; उपाश्रित्य—लगाकर; पुरु-शक्तिः—सर्वशक्तिमान; परः—परम; पुमान्—भगवान्; आत्मानम्—पूर्ण अंश को; क्रीडयन्—उन्हें लगा करके; क्रीडन्—जिस तरह स्वयं भी लगे रहकर; करोति—करता है; विकरोति—करवाता है; च—तथा ।

कृपया बतायें कि सर्व-शक्तिमान परमेश्वर किस तरह अपनी विभिन्न शक्तियों तथा विभिन्न अंशों को इस व्यवहार जगत के पालन करने में लगाते हैं और एक खिलाड़ी के खेल की तरह फिरसे इसे समेट लेते हैं?

तात्पर्य : *कठोपनिषद्* (२.२.१३) में भगवान् को अन्य सभी नित्य जीवों में प्रधान नित्य जीव के रूप में (*नित्यो नित्यानां चेतश्चेतनानाम्*) तथा एकमेव परमेश्वर के रूप में वर्णित किया गया है, जो अन्य असंख्य जीवों का पालन करता है (*एको बहूनां यो विदधाति कामान्*) । इस तरह समस्त जीव, चाहे बद्ध अवस्था में हों या मुक्त अवस्था में, सर्व-शक्तिमान परमेश्वर द्वारा पालित हैं। परि-पालन का यह कार्य भगवान् स्वयं के विभिन्न विस्तारों तथा तीन प्रमुख शक्तियों द्वारा—जिनके नाम अन्तरंगा, बहिरंगा

तथा तटस्था शक्तियाँ हैं—सम्पन्न करते हैं। सारे जीव उनकी तटस्था शक्तियाँ हैं और उनमें से कुछ को विश्वास पात्र होने के कारण सृष्टि करने का भी कार्यभार सौंपा जाता है, यथा ब्रह्मा, मरीचि आदि को और उन्हें सृष्टि-कार्य करने की प्रेरणा भगवान् देते हैं (*तेने ब्रह्म हृदा*)। बहिरंगाशक्ति (माया) को भी जीवों से अथवा बद्ध आत्माओं से व्याप्त किया जाता है। अबद्ध तटस्था शक्ति आध्यात्मिक जगत (*वैकुण्ठ*) में कार्य करती है और भगवान् अपने विविध अंशों द्वारा दिव्य आकाश में प्रदर्शित विभिन्न दिव्य सम्बन्धों में इसे बनाए रखते हैं। इस तरह एक ही भगवान् अपने को अनेक रूपों (*बहु स्याम्*) में प्रकट करते हैं। इस तरह उनमें सारी विविधताएँ हैं और समस्त विविधताओं में वे रहते हैं, यद्यपि इतने पर भी वे इन सबसे पृथक् रहते हैं। यही है भगवान् की अचिन्त्य योगशक्ति। इस तरह प्रत्येक वस्तु एक ही साथ उनकी अचिन्त्य शक्तियों के कारण उनसे एक तथा पृथक् है (*अचिन्त्य-भेदाभेद-तत्त्व*)।

नूनं भगवतो ब्रह्मन् हरेरद्भुत-कर्मणः ।

दुर्विभाव्यमिवाभाति कविभिश्चापि चेष्टितम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

नूनम्—फिर भी अपर्याप्त; भगवतः—भगवान् का; ब्रह्मन्—हे विद्वान् ब्राह्मण; हरेः—भगवान् का; अद्भुत—आश्चर्यजनक; कर्मणः—कर्म करनेवाला; दुर्विभाव्यम्—अचिन्त्य; इव—सुदृश; आभाति—प्रतीत होता है; कविभिः—अत्यधिक विद्वानों द्वारा भी; च—भी; अपि—के होते हुए; चेष्टितम्—प्रयास करने पर भी।

हे विद्वान् ब्राह्मण, भगवान् के दिव्य कार्यकलाप अद्भुत हैं और वे अचिन्त्य प्रतीत होते हैं, क्योंकि अनेक विद्वान् पंडितों के अनेक प्रयास भी उन्हें समझने में अपर्याप्त सिद्ध होते रहे हैं।

तात्पर्य : अकेले इस ब्रह्माण्ड के सृजन में ही परमेश्वर के कार्य अचिन्त्य तथा अद्भुत प्रतीत होते हैं। फिर ऐसे असंख्य ब्रह्माण्ड हैं और वे सब मिलकर सृजित भौतिक जगत कहलाते हैं और उनकी सृष्टि का यह अंश सम्पूर्ण सृष्टि का एक भिन्नांश मात्र है। यह भौतिक जगत के केवल अंश मात्र है (*एकांशेन स्थितो जगत्*)। यदि यह कल्पना करें कि यह भौतिक जगत उनकी शक्ति के एक अंश का प्रदर्शन है, तो फिर शेष तीन-चौथाई वैकुण्ठ जगत है, जिसका वर्णन *भगवद्गीता* में *मद्भाम* या *सनातन* धाम के रूप में हुआ है। हम पिछले श्लोक में देख चुके हैं कि भगवान् पहले सृष्टि करते हैं और फिर उसे समेट लेते हैं। यह कार्य केवल भौतिक जगत पर लागू होता है, क्योंकि उनकी सृष्टि का बहुत बड़ा भाग वैकुण्ठ लोक न तो सृजित होता है और न उसका विनाश होता है, अन्यथा उसे *सनातन* धाम न

कहा जाता। भगवान् अपने धाम में रहते हैं और उनका दिव्य नाम, गुण, लीलाएँ, पार्षद तथा व्यक्तित्व—ये सभी उनकी विभिन्न शक्तियों तथा अंशों के प्रदर्शन हैं। भगवान् *अनादि* अर्थात् जिसका स्रष्टा न हो तथा आदि या सभी वस्तुओं का उद्गम कहलाते हैं। हम अपनी अधूरी विधि से सोचते हैं कि भगवान् भी सृजित होते हैं, लेकिन वेदान्त हमें बताता है कि वे सृजित नहीं होते, प्रत्युत अन्य सारी वस्तुएँ उनके द्वारा सृजित हैं (*नारायणः परोऽव्यक्तात्*)। अतएव सामान्य व्यक्ति के लिए ये सभी अद्भुत विषय विचारणीय हैं। ये विषय बड़े-बड़े विद्वानों के लिए भी अचिन्त्य हैं। अतएव ये विद्वान एक दूसरे से विपरीत सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं। यहाँ तक कि इस ब्रह्माण्ड-विशेष का भी, जो कि सृजित जगत का एक नगण्य अंश है, उन्हें पूरा-पूरा ज्ञान नहीं है कि यह सीमित आकाश कितनी दूरी तक फैला है या कि कितने नक्षत्र तथा लोक हैं या कि इन अनन्त लोकों में कैसी परिस्थितियाँ हैं? आधुनिक वैज्ञानिकों को इन सबके विषय में अपर्याप्त ज्ञान है। उनमें से कुछ यह विचार प्रकट करते हैं कि सारे आकाश में १० करोड़ लोक हैं। २१ फरवरी १९६० को मास्को से एक समाचार विज्ञापित हुआ, जो इस प्रकार है—

रूस के प्रसिद्ध ज्योतिर्विज्ञान के प्रोफेसर बोरिस वोरोन्तसोव-वेलियामिनोव ने कहा है कि ब्रह्माण्ड में ऐसे असंख्य लोक होने चाहिए, जहाँ तर्कशील प्राणियों का निवास है।

ऐसा सम्भव है कि ऐसे लोकों में पृथ्वी-जैसा ही जीवन फल-फूल रहा हो।

“रसायन-विज्ञान के डाक्टर निकोलाई चिरोव ने अन्य लोकों के वायुमण्डल की समस्या पर विचार करते हुए इंगित किया है कि उदाहरण के तौर पर कहा जा सकता है कि मंगल-लोक का जीव शरीर के कम ताप से सामान्य जीवन के लिये अपने को अच्छी तरह अनुकूल बना सका।

“उसने कहा कि उसे लगता है कि मंगल-लोक के वायुमंडल का संघटन उस लोक के अभ्यस्त प्राणियों के जीवन के लिए सर्वथा उपयुक्त है और उन्होंने अपने को तदानुसार ढाल लिया है”

विभिन्न लोकों में प्राणी की अनुकूलन-क्षमता का वर्णन *ब्रह्म-संहिता* में *विभूति भिन्नम्* के रूप में वर्णित है अर्थात् ब्रह्माण्ड के असंख्य लोकों में से प्रत्येक में एक विशेष प्रकार का वायुमण्डल है और वहाँ के प्राणी विज्ञान तथा मनोविज्ञान के क्षेत्र में काफी बड़े-चढ़े हैं, क्योंकि वहाँ का वायुमण्डल

बेहतर है। विभूति का अर्थ है 'विशिष्ट शक्तियाँ' और भिन्नम् का अर्थ है 'विविध'। जो विज्ञानी बाह्य अन्तरिक्ष की खोज करने का प्रयास करके यान्त्रिक व्यवस्था द्वारा अन्य लोकों तक पहुँचने का प्रयत्न कर रहे हैं, उन्हें यह भलीभाँति जान लेना चाहिए कि जिन प्राणियों के शरीर को पृथ्वी के वायुमण्डल के अनुकूल है, वे अन्य लोकों के वायुमण्डल में नहीं रह सकते (हमारी 'अन्य लोकों की सुगम यात्रा' पुस्तक देखें)। मनुष्य को इस शरीर को त्यागने के बाद एक भिन्न लोक में जाने के लिए अपने को तैयार रखना होगा, जैसाकि *भगवद्गीता* (९.२५) में कहा गया है—

यान्ति देवव्रता देवान् पितृन् यान्ति पितृव्रताः ।

भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥

“जो लोग देवताओं की पूजा करते हैं, वे देवताओं के बीच जन्म लेंगे; जो भूत-प्रेतों को पूजते हैं, वे उन्हीं के बीच जन्म लेंगे और जो मेरी पूजा करते हैं, वे मेरे साथ रहेंगे।”

भगवान् की सृजनात्मक शक्ति के विषय में महाराज परीक्षित का वक्तव्य यह बताता है कि वे सृष्टि-प्रक्रम के विषय में सब कुछ जानते थे। तो फिर उन्होंने शुकदेव गोस्वामी से ऐसी जानकारी क्यों चाही? पाण्डवों के वंशज महाराज परीक्षित महान् सम्राट थे तथा भगवान् श्रीकृष्ण के महान् भक्त थे। अतएव वे जगत की सृष्टि के विषय में बहुत कुछ जानथे में सक्षम थे, लेकिन उनका ज्ञान इतना पर्याप्त न था। इसलिए उन्होंने कहा कि बड़े-बड़े विद्वान् काफी प्रयत्न करने के बाद भी इसे जानने में असफल रहते हैं। भगवान् अनन्त हैं और उनके कार्यकलाप भी अथाह हैं। सीमित ज्ञान तथा अपूर्ण इन्द्रियों के कारण कोई भी जीव, यहाँ तक कि इस ब्रह्माण्ड के सर्वोच्च पूर्ण जीव ब्रह्माजी भी, अनन्त के विषय में जान लेने की कल्पना तक नहीं कर सकते। हम अनन्त के विषय में थोड़ा बहुत तभी समझ सकते हैं, जब यह अनन्त द्वारा बताया जाये जैसाकि स्वयं भगवान् ने *भगवद्गीता* में बतलाया है। शुकदेव गोस्वामी-जैसे प्रबुद्ध व्यक्तियों से भी इस बारे में कुछ हद तक जाना जा सकता है, क्योंकि उन्होंने नारद के शिष्य व्यासदेव से इसे सीखा था। इस तरह शिष्य-परम्परा द्वारा ही पूर्ण ज्ञान प्रकट हो सकता है, किसी भी व्यावहारिक ज्ञान द्वारा नहीं, चाहे वह प्राचीन हो या आधुनिक।

यथा गुणांस्तु प्रकृतेर्युगपत् क्रमशोऽपि वा ।

बिभर्ति भूरिशस्त्वेकः कुर्वन् कर्माणि जन्मभिः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह वे हैं; गुणान्—गुणों को; तु—लेकिन; प्रकृतेः—भौतिक शक्ति के; युगपत्—एकसाथ; क्रमशः—धीरे-धीरे; अपि—भी; वा—अथवा; बिभर्ति—पालन करता है; भूरिशः—अनेक रूपों में; तु—लेकिन; एकः—सर्वोच्च एक; कुर्वन्—कार्य करते हुए; कर्माणि—कार्यकलाप; जन्मभिः—अवतारों के द्वारा ।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् एक हैं, चाहे वे प्रकृति के गुणों से अकेले कर्म करें या एकसाथ कई रूपों में विस्तार करें या कि प्रकृति के गुणों के निर्देशन हेतु बारी-बारी से विस्तार करें ।

विचिकित्सितमेतन्मे ब्रवीतु भगवान् यथा ।

शाब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परस्मिंश्च भवान्खलु ॥ १० ॥

शब्दार्थ

विचिकित्सितम्—सन्देहपूर्ण प्रश्न; एतत्—यह; मे—मुझे; ब्रवीतु—स्पष्ट करें; भगवान्—भगवान् के समान शक्तिशाली; यथा—जिस तरह; शाब्दे—दिव्य शब्द में; ब्रह्मणि—वैदिक साहित्य में; निष्णातः—पूर्णतया प्रबुद्ध या पारंगत; परस्मिन्—अध्यात्म में; च—भी; भवान्—आप; खलु—वास्तव में ।

कृपया इन सारे संशयप्रद प्रश्नों का निवारण कर दें, क्योंकि आप न केवल वैदिक साहित्य के परम विद्वान एवं अध्यात्म में आत्मसिद्ध हैं, अपितु आप भगवान् के महान् भक्त हैं अतएव आप भगवान् के ही समान हैं ।

तात्पर्य : ब्रह्म-संहिता में कहा गया है कि परम सत्य गोविन्द यद्यपि अद्वितीय हैं, तथापि वे अपने को अच्युत भाव से असंख्य रूपों में प्रकट करते हैं, जो एक दूसरे से अभिन्न होते हैं और यद्यपि वे आदि पुरुष हैं, तो भी वे सदैव युवा प्रतीत होते हैं और स्थायीतरुण शक्ति से युक्त रहते हैं । वेदों का अध्यात्म-ज्ञान जान लेने मात्र से ही उन्हें नहीं जाना जा सकता, किन्तु उनके शुद्ध भक्त उन्हें सरलता से अनुभव कर पाते हैं ।

भगवान् के विभिन्न रूपों के सारे विस्तार जैसे श्रीकृष्ण से बलदेव, बलदेव से संकर्षण, संकर्षण से वासुदेव, वासुदेव से अनिरुद्ध, अनिरुद्ध से प्रद्युम्न तथा प्रद्युम्न से पुनः द्वितीय संकर्षण और उनसे नारायण पुरुषावतार तथा अन्य असंख्य रूप, जो नदी की असंख्य तरंगों की भाँति निरन्तर प्रवाहित होते रहते हैं, वे सब एक हैं । वे समान शक्तिवाले दीपकों की भाँति हैं, जो एक दूसरे को प्रदीप्त करते हैं । यही भगवान् की दिव्य शक्ति है । वेदों का कथन है कि वे इतने पूर्ण हैं कि यद्यपि सम्पूर्ण सत्ता (जगत)

उनसे उद्भूत होती है, फिर भी वे ज्यों के त्यों पूर्ण बने रहते हैं (पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते) । अतएव ज्ञानियों के द्वारा बनाई गई भगवान् की भौतिक अवधारणा की कोई वैधता नहीं है । इस तरह वे (भगवान्) संसारी विद्वान् के लिए सदैव रहस्य बने रहते हैं, भले ही वह वैदिक साहित्य में कितना ही पंडित क्यों न हो (वेदेषु दुर्लभम् अदुर्लभम् आत्मभक्तौ) । अतएव भगवान् संसारी विद्वान् पंडितों, दार्शनिकों या विज्ञानियों की धारणाओं से सर्वथा परे हैं । वे शुद्ध भक्त द्वारा सहज गम्य हैं, क्योंकि भगवद्गीता (१८.५४) में भगवान् घोषित करते हैं कि जब कोई ज्ञान की अवस्था को पार करके भगवान् की भक्ति में लीन हो जाता है, तभी वह भगवान् के वास्तविक स्वभाव को समझ सकता है । जब तक कोई भगवान् की भक्ति में प्रवृत्त नहीं होता, तब तक उसे भगवान् या उनके पवित्र नाम, रूप, लक्षण, लीलाओं आदि के विषय में कोई स्पष्ट धारणा नहीं बन सकती । भगवद्गीता का यह कथन कि सर्वप्रथम मनुष्य अन्य सारी व्यस्तताओं से मुक्त होकर भगवान् की शरण में जाये, यह बताता है कि मनुष्य को भगवान् का शुद्ध, मुक्त भक्त होना चाहिए । तभी वह भक्ति के बल पर उन्हें जान सकता है ।

पिछले श्लोक में महाराज परीक्षित ने स्वीकार किया कि भगवान् बड़े से बड़े विद्वानों के लिए भी अचिन्त्य हैं । तो वे शुकदेव गोस्वामी से अपने उस अपर्याप्त ज्ञान को स्पष्ट करने का अनुरोध क्यों करते हैं ? इसका कारण स्पष्ट है । शुकदेव गोस्वामी न केवल वैदिक साहित्य में प्रकाण्ड विद्वान् थे, अपितु वे महान् स्वरूपसिद्ध पुरुष और भगवान् के शक्तिसम्पन्न भक्त भी थे । भगवत्कृपा से भगवान् का शक्तिशाली भक्त भगवान् से भी बढ़कर होता है । भगवान् श्रीरामचन्द्र हिन्द महासागर पर सेतु बनाकर लंका द्वीप पहुँचने का प्रयास कर रहे थे, किन्तु उनके अनन्य भक्त श्री हनुमानजी छलांग मार कर उस सागर को पार कर गये । भगवान् अपने भक्तों के ऊपर इतने दयालु रहते हैं कि वे अपने प्रिय भक्तों को अपने से बढ़कर प्रस्तुत करते हैं । भगवान् ने दुर्वासा मुनि की रक्षा करने में अपनी असमर्थता व्यक्त कर दी थी, यद्यपि दुर्वासा मुनि इतने शक्तिशाली थे कि भौतिक दशाओं में ही भगवान् के पास सीधे पहुँच गये । लेकिन दुर्वासा मुनि की रक्षा की तो एक भगवद्भक्त अर्थात् महाराज अम्बरीष ने । अतएव भगवद्भक्त न केवल भगवान् से अधिक शक्तिशाली होता है, अपितु भक्त की पूजा भी भगवान् की प्रत्यक्ष पूजा से अधिक प्रभावशाली मानी जाती है (मद्भक्तपूजाभ्यधिका) ।

अतएव निष्कर्ष यह निकला है कि गम्भीर भक्त को सर्वप्रथम ऐसे गुरु के समीप जाना चाहिए जो न केवल वैदिक साहित्य में निष्णात हो, अपितु महान् भक्त भी हो, जिसे भगवान् की एवं उनकी विभिन्न शक्तियों की वास्तविक अनुभूति हो। ऐसे भक्त-गुरु की सहायता के बिना कोई व्यक्ति भगवान् के अध्यात्म-विज्ञान में प्रगति नहीं कर सकता। शुकदेव गोस्वामी जैसा प्रामाणिक गुरु न केवल भगवान् की अन्तरंगा शक्तियों के विषय में बताता है, अपितु वह यह भी बताता है कि वे किस तरह अपनी बहिरंगा शक्ति के साथ रहते हैं।

अन्तरंगा शक्ति में भगवान् की लीलाएँ उनके वृन्दावन के कार्यकलापों के रूप में प्रदर्शित होती हैं, किन्तु उनकी बहिरंगा शक्ति के कार्यकलाप उनके कारणवशायी विष्णु, गर्भोदकशायी विष्णु तथा क्षीरोदकशायी विष्णु के रूपों में प्रकट होते हैं। श्रील विश्वनाथचक्रवर्ती वैष्णवों को उपदेश देते हुए कहते हैं कि उन्हें केवल भगवान् के कार्यकलापों (यथा रासलीला) के सुनने में ही रुचि नहीं लेनी चाहिए, अपितु उनके पुरुषावतारों के रूप में की गई सृष्टि तत्त्व लीलाओं में भी रुचि लेनी चाहिए, जैसाकि महाराज परीक्षित ने आदर्श शिष्य के रूप में आदर्श गुरु शुकदेव गोस्वामी से ली।

सूत उवाच

इत्युपामन्त्रितो राज्ञा गुणानुकथने हरेः ।

हृषीकेशमनुस्मृत्य प्रतिवक्तुं प्रचक्रमे ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; उपामन्त्रितः—अनुरोध किये जाने पर; राज्ञा—राजा द्वारा; गुण-अनुकथने—दिव्य गुणों के वर्णन में; हरेः—भगवान् के; हृषीकेशम्—इन्द्रियों के स्वामी को; अनुस्मृत्य—ठीक से स्मरण करके; प्रतिवक्तुम्—उत्तर देने के लिए; प्रचक्रमे—औपचारिकताएँ पूरी कीं।

सूत गोस्वामी ने कहा : जब राजा ने शुकदेव गोस्वामी से इस प्रकार प्रार्थना की कि वे भगवान् की सृजनात्मक शक्ति का वर्णन करें, तो उन्होंने इन्द्रियों के स्वामी (श्रीकृष्ण) का ठीक से स्मरण किया और उपयुक्त उत्तर देने के लिए इस प्रकार बोले।

तात्पर्य : भगवद्भक्तों को जब कोई व्याख्यान देना होता है तथा भगवान् के दिव्य गुणों का वर्णन करना होता है, तो वे यह नहीं सोचते कि वे कोई भी बात स्वतन्त्र रूप से कर सकते हैं। वे सोचते हैं कि वे तभी ऐसा कर सकते हैं जब इन्द्रियों के स्वामी भगवान् उन्हें बोलने की प्रेरणा न दें। जीव की

इन्द्रियाँ उसकी नहीं होतीं; भक्तगण जानते हैं कि ऐसी इन्द्रियाँ परमेश्वर की हैं और उनका समुचित प्रयोग तभी हो सकता है, जब उनका उपयोग भगवान् की सेवा में किया जाय। इन्द्रियाँ तो यन्त्र हैं और तत्त्व अवयव हैं, जो भगवान् द्वारा प्रदत्त हैं, अतएव मनुष्य जो भी करता, बोलता, देखता है, वह केवल भगवान् के निर्देश पर करता है। *भगवद्गीता* (१५.१५) इसकी पुष्टि करती है: *सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।* कोई भी स्वतन्त्र भाव से कर्म करने के लिए मुक्त नहीं है, अतएव मनुष्य को सदा कर्म करने, खाने या बोलने की अनुमति भगवान् से ले लेनी चाहिए और भगवान् के आशीर्वाद से भक्त जो कुछ करता है, वह बद्धजीव द्वारा किये गये चार प्रकार के दोषों के सिद्धान्तों से मुक्त होता है।

श्री-शुक उवाच

नमः परस्मै पुरुषाय भूयसे
सद्ब्रह्म-स्थान-निरोध-लीलया ।
गृहीत-शक्ति-त्रितयाय देहिना-
मन्तर्भवायानुपलक्ष्य-वर्त्मने ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; नमः—नमस्कार; परस्मै—परम; पुरुषाय—भगवान् को; भूयसे—परम पूर्ण को; सद्-ब्रह्म—भौतिक जगत की सृष्टि; स्थान—इसका पालन-पोषण; निरोध—तथा इसका संहार, समेटा जाना; लीलया—लीलाओं से; गृहीत—स्वीकार किया; शक्ति—शक्ति; त्रितयाय—तीन गुण; देहिनाम्—समस्त देहधारियों का; अन्तः-भवाय—अन्तःकरण में निवास करनेवाले को; अनुपलक्ष्य—अचिन्त्य; वर्त्मने—ऐसी गतियों वाला।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : मैं उन पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को सादर नमस्कार करता हूँ, जो भौतिक जगत की सृष्टि के लिए प्रकृति के तीन गुणों को स्वीकार करते हैं। वे प्रत्येक शरीर के भीतर निवास करनेवाले परम पूर्ण हैं और उनकी गतियाँ अचिन्त्य हैं।

तात्पर्य : यह भौतिक जगत सतो, रजो तथा तमो गुणों की अभिव्यक्ति है और इस जगत की सृष्टि, पालन तथा संहार के लिए ब्रह्माजी, विष्णु तथा शंकर (शिव) इन तीन प्रमुख रूपों को स्वीकार करते हैं। विष्णु के रूप में वे भौतिक रूप से सृजित प्रत्येक जीव में प्रवेश कर जाते हैं। गर्भोदकशायी विष्णु के रूप में वे प्रत्येक ब्रह्माण्ड में प्रवेश करते हैं और क्षीरोदकशायी विष्णु के रूप में वे प्रत्येक जीव के शरीर में प्रवेश करते हैं। समस्त विष्णुतत्त्वों के उद्गम होने के कारण भगवान् कृष्ण को यहाँ पर परः

पुमान् या पुरुषोत्तम के रूप में सम्बोधित किया गया है, जैसाकि *भगवद्गीता* (१५.१८) में वर्णन आया है। वे परम पूर्ण हैं, अतएव सारे पुरुषावतार उनके अंश हैं। भक्तियोग ही वह एकमात्र विधि है, जिससे कोई उन्हें जानने में सक्षम हो सकता है। चूँकि ज्ञानी तथा योगी भगवान् की अनुभूति नहीं कर पाते, अतएव वे *अनुपलक्ष्यवर्त्मने* या अचिन्त्य गति या भक्तियोग वाले भगवान् कहलाते हैं।

भूयो नमः सद्वृजिन-च्छिदेऽसता-
मसम्भवायाखिल-सत्त्व-मूर्तये ।

पुंसां पुनः पारमहंस्य आश्रमे
व्यवस्थितानामनुमृग्य-दाशुषे ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

भूयः—पुनः; नमः—मेरा नमस्कार; सत्—भक्तों या पुण्यात्माओं का; वृजिन—आपत्तियाँ; छिदे—मुक्तिदाता; असताम्—नास्तिकों या अभक्त असुरों का; असम्भवाय—अगले दुखों का अन्त; अखिल—पूर्ण; सत्त्व—सतो गुण; मूर्तये—पुरुष को; पुंसाम्—योगियों का; पुनः—फिर; पारमहंस्ये—आध्यात्मिक सिद्धि; आश्रमे—आश्रम में; व्यवस्थितानाम्—विशिष्ट रूप से स्थित; अनुमृग्य—लक्ष्य; दाशुषे—उद्धारकर्ता।

मैं पुनः पूर्ण जगत-रूप तथा अध्यात्म-रूप उन भगवान् को सादर नमस्कार करता हूँ, जो पुण्यात्मा भक्तों को समस्त संकटों से मुक्ति दिलानेवाले तथा अभक्त असुरों की नास्तिक मनोवृत्ति की वृद्धि को विनष्ट करनेवाले हैं। वे सर्वोच्च आध्यात्मिक सिद्धि-प्राप्त योगियों को उनके विशिष्ट पद प्रदान करने वाले हैं।

तात्पर्य : भगवान् श्रीकृष्ण समस्त जगत के, भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों ही के, पूर्ण रूप हैं। अखिल का अर्थ है पूर्ण अथवा जो *खिल* या निकृष्ट नहीं है। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है, प्रकृति दो तरह की है—भौतिक प्रकृति तथा आध्यात्मिक प्रकृति, जो भगवान् की बहिरंगा तथा अन्तरंगा शक्तियाँ हैं। भौतिक प्रकृति *अपरा* या निकृष्ट कहलाती है और आध्यात्मिक प्रकृति *परा* या दिव्य कहलाती है। अतएव भगवान् का स्वरूप निकृष्ट भौतिक प्रकृति नहीं है। वे तो पूर्ण ब्रह्म हैं। वे मूर्ति हैं अर्थात् दिव्य स्वरूपवाले हैं। अल्पज्ञानी व्यक्ति उनके दिव्य स्वरूप से परिचित न होने के कारण उन्हें निराकार ब्रह्म के रूप में बताते हैं। लेकिन ब्रह्म तो उनके दिव्य शरीर की किरणें मात्र है (*यस्य प्रभा*)। भक्त-गण उनके दिव्य स्वरूप से परिचित होने के कारण उनकी सेवा करते हैं, अतएव भगवान् भी अपनी अहैतुकी कृपा का प्रतिदान करते हैं और अपने भक्तों को समस्त विपत्तियों से उबारते हैं। वे

पवित्रात्मा, जो वेदों के आदेशों का पालन करनेवाले हैं, भगवान् को अत्यन्त प्रिय हैं। अतएव वे उनकी भी रक्षा करते हैं। *दुरात्मा* तथा अभक्तगण वेदों के नियमों के विरुद्ध रहते हैं, अतएव ऐसे व्यक्तियों के निन्द्य कार्यकलापों की प्रगति में बाधा डाली जाती है। इनमें से कुछ, जिन पर भगवान् की विशेष कृपा होती है, उन्हीं के द्वारा मारे जाते हैं, जैसे रावण, हिरण्यकशिपु तथा कंस। इस प्रकार असुरों को मोक्ष प्राप्त होता है और उनके आसुरी कार्यकलापों को आगे बढ़ने से रोक दिया जाता है। चाहे भक्तों पर कृपा-भाव हो या असुरों का वध, भगवान् एक पिता की भाँति, सबों पर दयालु रहते हैं, क्योंकि वे प्रत्येक जीव के पूर्ण स्वामी हैं।

जीव की परमहंस अवस्था अध्यात्म की सर्वोच्च सिद्धावस्था है। श्रीमती कुन्तीदेवी के अनुसार, परमहंस ही भगवान् को वास्तव में जान पाते हैं। जिस तरह अध्यात्म की अनुभूति निर्विशेष ब्रह्म से अन्तर्यामी परमात्मा तथा उससे बढ़कर पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण के रूप में होती है, उसी प्रकार संन्यास के आध्यात्मिक जीवन में भी मनुष्य का पद क्रमशः ऊपर उठता है। संन्यास की क्रमिक अवस्थाएँ हैं *कुटीचक*, *बहूदक*, *परिव्राजकाचार्य* तथा *परमहंस*। इनका उल्लेख पाण्डवों की माता श्रीमती कुन्तीदेवी ने भगवान् कृष्ण की प्रार्थना के अन्तर्गत किया है (प्रथम स्कन्ध, अध्याय ८)। सामान्यतया परमहंस निर्विशेषवादियों तथा भक्तों दोनों में ही पाये जाते हैं, लेकिन *श्रीमद्भागवत* के अनुसार (जैसाकि कुन्ती देवी ने स्पष्ट कहा है), केवल परमहंस ही शुद्ध भक्तियोग को समझ पाते हैं। कुन्तीदेवी ने स्पष्ट कहा है कि भगवान् परमहंसों को भक्तियोग प्रदान करने के लिये ही विशेष रूप से अवतरति होते हैं (*परित्राणाय साधूनाम्*)। इस तरह एक प्रकार से अन्ततोगत्वा परमहंस भगवान् के अनन्य भक्त ही हैं। श्रील जीव गोस्वामी ने प्रत्यक्ष स्वीकार किया है कि परम गति तो भक्तियोग है, जिसके द्वारा मनुष्य भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति स्वीकार करते हैं। जो लोग भक्तियोग के मार्ग को ग्रहण करते हैं, वे ही वास्तविक परमहंस हैं।

चूँकि भगवान् सबों पर अत्यन्त दयालु रहते हैं, अतएव जो निर्विशेषवादी भगवान् की निर्विशेष ब्रह्मज्योति में तदाकार होने के लिए साधन-स्वरूप भक्ति ग्रहण करते हैं, उन्हें भी उनका मनोवांछित लक्ष्य प्राप्त होता है। उन्होंने *भगवद्गीता* (४.११) में सबों को आश्चस्त किया है— *ये यथा मां प्रपद्यन्ते।*

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार, परमहंसों की दो श्रेणियाँ हैं—*ब्रह्मानन्दी* (निर्विशेषवादी) तथा *प्रेमानन्दी* (भक्त) और इन दोनों को ही वांछित गति प्राप्त होती है, यद्यपि ब्रह्मानन्दियों की अपेक्षा प्रेमानन्दी अधिक भाग्यवान हैं। लेकिन ये दोनों श्रेणियाँ अध्यात्मवादी हैं और इन्हें अपरा प्रकृति से कुछ भी लेना-देना नहीं रहता, जो जीवन के कष्टों से पूर्ण है।

नमो नमस्तेऽस्त्वृषभाय सात्वतां
 विदूर-काष्ठाय मुहुः कुयोगिनाम् ।
 निरस्त-साम्यातिशयेन राधसा
 स्व-धामनि ब्रह्मणि रंस्यते नमः ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

नमः नमः ते—मैं आपको नमस्कार करता हूँ; अस्तु—हैं; ऋषभाय—महान् पार्षद को; सात्वताम्—यदुवंश के सदस्यों को; विदूर-काष्ठाय—संसारी द्वन्द्वों से दूर रहनेवाला; मुहुः—सदैव; कु-योगिनाम्—अभक्तों का; निरस्त—ध्वस्त; साम्य—समान पद; अतिशयेन—महानता से; राधसा—ऐश्वर्य से; स्व-धामनि—अपने धाम में; ब्रह्मणि—वैकुण्ठ लोक में; रंस्यते—भोग करता है; नमः—मैं नमस्कार करता हूँ।

मैं उन्हें सादर नमस्कार करता हूँ जो यदुवंशियों के संगी हैं और अभक्तों के लिए सदैव समस्या बने रहते हैं। वे भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों जगत्‌ों के परम भोक्ता हैं, फिर भी वे वैकुण्ठ स्थित अपने धाम का भोग करते हैं। कोई भी उनके समतुल्य नहीं है, क्योंकि उनका दिव्य ऐश्वर्य अमाप्य है।

तात्पर्य : परमेश्वर श्रीकृष्ण के दिव्य स्वरूपों के दो पहलू हैं। शुद्ध भक्तों के वे नित्य संगी हैं—यथा यदुवंशी होकर या अर्जुन के सखा बनकर या वृन्दावनवासियों के संगी-पड़ोसी बनकर, नन्द-यशोदा के पुत्र बनकर, सुदामा, श्रीदामा तथा मधुमंगल के मित्र बनकर या ब्रजभूमि की बालाओं के प्रेमी बनकर इत्यादि-इत्यादि। यह उनके साकार स्वरूप का अंग है। अपने निर्विशेष रूप में वे ब्रह्मज्योति की किरणें प्रसारित करते हैं, जो असीम तथा सर्वव्यापी हैं। सूर्य किरणों के तुल्य इस सर्वव्यापी ब्रह्म-ज्योति का एक अंश महत् तत्त्व के अंधकार से आच्छादित रहता है और यही नगण्य अंश भौतिक जगत् कहलाता है। इस भौतिक जगत् में ऐसे असंख्य ब्रह्माण्ड हैं जिस तरह के ब्रह्माण्ड का हम अनुभव कर रहे हैं और इनमें लाखों ऐसे लोक हैं—जैसे उनमें से एक लोक में हम रह रहे हैं। संसारी लोग भगवान् की किरणों के असीम विस्तार से किसी न किसी प्रकार से मोहित होते हैं, किन्तु

भक्तों को भगवान् के साकार रूप से ही प्रयोजन रहता है, क्योंकि उसी से प्रत्येक वस्तु उद्भूत होती है (जन्माद्यस्य यतः)। जिस प्रकार सूर्य की किरणें सूर्य-मण्डल में संकेन्द्रित रहती हैं, उसी तरह ब्रह्मज्योति सर्वोच्च लोक गोलोक वृन्दावन में संकेन्द्रित रहती है। असीम आध्यात्मिक आकाश वैकुण्ठ-लोकों से भरा हुआ है और भौतिक आकाश से बहुत दूर है। जहाँ संसारी लोगों को सांसारिक आकाश के विषय में ही अपर्याप्त ज्ञान हो, भला वे आध्यात्मिक आकाश के विषय में किस तरह सोच सकते हैं? अतएव संसारी लोग सदैव भगवान् से बहुत दूर रहते हैं। भविष्य में यदि वे ऐसा यन्त्र बना भी लें, जिसकी गति वायु या मन के वेग के तुल्य हो, तो भी संसारी मनुष्य आध्यात्मिक आकाश के लोकों तक पहुँचने की कल्पना नहीं कर सकते। अतः भगवान् तथा उनका वासस्थान सदा-सदा के लिए रहस्य या कल्पना बना रहेगा। किन्तु भगवान् भक्तों के लिए सदैव संगी के रूप में बने रहेंगे।

आध्यात्मिक आकाश में उनका ऐश्वर्य अपरिमेय है। भगवान् समस्त दिव्य वैकुण्ठ लोकों में अपने अंशों का विस्तार करके मुक्त पार्षदों के साथ निवास करते हैं, किन्तु जो निर्विशेषवादी भगवान् से तदाकार होना चाहते हैं उनको, ब्रह्मज्योति की एक आध्यात्मिक स्फुलिंग के रूप में तदाकार होने दिया जाता है। उनमें इतनी योग्यता नहीं होती कि वे वैकुण्ठ लोकों में, या परमलोक, गोलोक वृन्दावन में भगवान् के पार्षद बन सकें, जिसका उल्लेख *भगवद्गीता* में *मद्भाम* के रूप में हुआ है और इस श्लोक में *स्वधाम* कहा गया है।

भगवद्गीता (१५.६) में *मद्भाम* या *स्वधाम* का वर्णन इस प्रकार हुआ है।

न तद् भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।

यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्भाम् परमं मम ॥

भगवान् के स्वधाम में न तो सूर्यप्रकाश की आवश्यकता पड़ती है, न चाँदनी की, न बिजली जगमगाने की। वह धाम या स्थान सर्वश्रेष्ठ है और जो भी वहाँ जाता है, वह फिर कभी इस भौतिक जगत में वापस नहीं आता।

वैकुण्ठ लोक तथा गोलोक वृन्दावन स्वतः प्रकाशित रहते हैं और भगवान् के इस स्वधाम से

विकीर्ण किरणें ही ब्रह्मज्योति का निर्माण करती हैं। इसकी पुष्टि मुण्डक (२.२.१०), कठ (२.२.१५) तथा श्वेताश्वतर (६.१४) उपनिषदों में भी हुई है।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयम् अग्निः ।
तमेव भान्तम् अनु भाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥

भगवान् के स्वधाम में प्रकाश के लिए सूर्य, चन्द्रमा या तारों की आवश्यकता नहीं पड़ती। न ही वहाँ बिजली की आवश्यकता है; तो फिर दीपकों के विषय में क्या कहा जाय? दूसरी ओर इन लोकों के स्वतः प्रकाशित होने के कारण ही सारा तेज सम्भव है और वहाँ जो भी जाज्वल्यमान है, वह उस स्वधाम के परावर्तन के कारण है।

जो निर्विशेष ब्रह्मज्योति से चकाचौंध हो जाता है, वह साक्षात् भगवान् को नहीं जान सकता। अतएव ईशोपनिषद् (१५) में यह प्रार्थना की गई है कि भगवान् अपने चमत्कृत तेज को हटा लें, जिससे भक्त वास्तविकता का दर्शन कर सके। यह श्लोक इस प्रकार है—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥

“हे भगवान्! आप भौतिक तथा आध्यात्मिक सभी वस्तुओं के पालक हैं और प्रत्येक वस्तु आपकी कृपा से फलती-फूलती है। आपका भक्तियोग ही धर्म का वास्तविक सिद्धान्त अर्थात् सत्यधर्म है और मैं उस सेवा में लगा हुआ हूँ। कृपया अपने असली मुख का दर्शन देकर मेरी रक्षा करें। अतएव आप अपनी ब्रह्मज्योति किरणों के इस अवगुण्ठन को हटा लें, जिससे मैं आपके सच्चिदानन्द स्वरूप का दर्शन कर सकूँ।”

यत्कीर्तनं यत्स्मरणं यदीक्षणं
 यद्वन्दनं यच्छ्रवणं यदर्हणम् ।
 लोकस्य सद्यो विधुनोति कल्मषं
 तस्मै सुभद्र-श्रवसे नमो नमः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

यत्—जिसका; कीर्तनम्—महिमागान; यत्—जिसका; स्मरणम्—स्मरण; यत्—जिसका; ईक्षणम्—दर्शन; यत्—जिसका; वन्दनम्—प्रार्थना; यत्—जिसका; श्रवणम्—श्रवण; यत्—जिसका; अर्हणम्—पूजा; लोकस्य—लोगों का; सद्यः—तुरन्त; विधुनोति—विशेष रूप से स्वच्छ करता है; कल्मषम्—पापों के प्रभावों को; तस्मै—उसको; सुभद्र—मंगलमय; श्रवसे—श्रवण किया गया; नमः—नमस्कार; नमः—पुनः पुनः ।

मैं उन सर्वमंगलमय भगवान् श्रीकृष्ण को सादर नमस्कार करता हूँ जिनके यशोगान, स्मरण, दर्शन, वन्दन, श्रवण तथा पूजन से पाप करनेवाले के सारे पाप-फल तुरन्त धुल जाते हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर सर्वोच्च अधिकारी श्री शुकदेव गोस्वामी द्वारा समस्त पापों के फलों (कल्मषों) से मुक्त होने के लिए भव्य धार्मिक कृत्यों का सुझाव रखा दिया है। कीर्तन अर्थात् यशोगान कई प्रकार से सम्पन्न किया जा सकता है—यथा स्मरण करने, देवदर्शन के लिए मन्दिरों में जाने, भगवान् के समक्ष प्रार्थना करने तथा श्रीमद्भागवत या भगवद्गीता में वर्णित विधि से भगवान् की महिमा का पाठ सुनने से। मुधर संगीत के साथ भगवान् के यश का गायन करके तथा श्रीमद्भागवत या भगवद्गीता जैसे शास्त्रों का पाठ करके कीर्तन सम्पन्न किया जा सकता है।

भक्तों को चाहिए कि वे भगवान् की सदेह अनुपस्थिति से निराश न हों, भले ही वे अपने को उनकी संगति में न पा रहे हों। कीर्तन, श्रवण, स्मरण आदि (या तो सभी या इनमें से कुछ या केवल एक) की भक्ति-विधि हमें उपयुक्त प्रकार से भगवान् की दिव्य प्रेमा-भक्ति सम्पन्न करके उनके सान्निध्य का वांछित फल प्रदान कर सकती है। यहाँ तक कि कृष्ण या राम के नाम के उच्चारण मात्र से वायुमण्डल आध्यात्मिक हो उठता है। हमें भलीभाँति जान लेना चाहिए कि जहाँ भी ऐसी शुद्ध दिव्य सेवा की जाती है, वहाँ भगवान् विद्यमान रहते हैं। इस प्रकार निरपराध कीर्तनम् सम्पन्न करनेवाले को भगवान् का सकारात्मक सान्निध्य प्राप्त होता है। इसी प्रकार कुशल मार्गदर्शन के अन्तर्गत सम्पन्न स्मरण तथा वन्दन से भी वांछित फल प्राप्त हो सकता है। मनुष्य को चाहिए कि भक्ति के स्वरूपों को मनमाना नहीं गढ़े। वह किसी मन्दिर में जाकर भगवान् के स्वरूप की पूजा कर सकता है या किसी मस्जिद या गिरजाघर में भगवान् की निर्विशेष भक्तिमयी प्रार्थना कर सकता है। मनुष्य निश्चय ही पाप-

फलों से छूट सकता है बशर्ते कि वह मन्दिर, मस्जिद या गिरजाघर में पूजा करके पापों के फलों से मुक्त होने की आशा से जानबूझकर पाप न करने के बारे में सावधान रहे। भक्तिमय सेवा के बल पर जानबूझकर पाप करने की यह मनोवृत्ति *नाम्नो बलाद् यस्य हि पापबुद्धिः* कहलाती है और भक्ति के मार्ग में यह सबसे बड़ा अपराध है। अतएव ऐसे पापगर्तों से सावधान रहने के लिए श्रवण अत्यन्त आवश्यक है। इस श्रवण विधि पर विशेष बल देने के उद्देश्य से ही शुकदेव गोस्वामी समस्त कल्याण का आह्वान करते हैं।

विचक्षणा यच्चरणोपसादनात्

सङ्गं व्युदस्योभयतोऽन्तरात्मनः ।

विन्दन्ति हि ब्रह्म-गतिं गत-क्लमा-

स्तस्मै सुभद्र-श्रवसे नमो नमः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

विचक्षणा:—अत्यन्त बुद्धिमान; यत्—जिसका; चरण-उपसादनात्—चरणकमलों में आत्म-समर्पण करके; सङ्गम्—आसक्ति; व्युदस्य—पूर्णतया त्यागकर; उभयतः—वर्तमान एवं भविष्य में; अन्तः-आत्मनः—हृदय तथा आत्मा का; विन्दन्ति—आगे प्रगति करता है; हि—निश्चय ही; ब्रह्म-गतिम्—आध्यात्मिक जगत की ओर; गत-क्लमाः—बिना कठिनाई के; तस्मै—उसको; सुभद्र—शुभ; श्रवसे—जो सुना गया है उसे; नमः—मेरा नमस्कार; नमः—पुनः पुनः ।

मैं सर्व-मंगलमय भगवान् श्रीकृष्ण को बारम्बार प्रणाम करता हूँ। उनके चरण-कमलों की शरण ग्रहण करने मात्र से उच्च कोटि के बुद्धिमान जन वर्तमान तथा भावी जगत की सारी आसक्तियों से छुटकारा पा जाते हैं और बिना किसी कठिनाई के आध्यात्मिक जगत की ओर अग्रसर होते हैं।

तात्पर्य : भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को या उन सबों को, जो उनके अनन्य भक्त बनना चाहते हैं, बारम्बार उपदेश दिया है। उन्होंने *भगवद्गीता* (१८.६४-६६) में अपने अन्तिम उपदेश में, अत्यन्त गुह्य उपदेश दिया है—

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।

इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।

मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।

अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

“हे प्रिय अर्जुन! तुम मुझे अत्यन्त प्रिय हो। अतएव तुम्हारे ही कल्याण के लिए मैं अपने गुह्यतम उपदेश को प्रकट करूँगा। वह इस तरह है—तुम मेरे शुद्ध भक्त बन जाओ और मुझे आत्म-समर्पण कर दो। मैं तुम्हें पूर्ण आध्यात्मिक जीवन का वचन देता हूँ, जिससे तुम मेरी दिव्य प्रेमाभक्ति का नित्य अधिकार प्राप्त कर सकोगे। तुम अन्य सारी धार्मिकता की विधियाँ त्याग दो और एकमात्र मेरी शरण में आ जाओ और यह विश्वास करो कि मैं तुम्हें सारे पाप पूर्ण कृत्यों से बचाऊँगा और तुम्हारा उद्धार करूँगा। तुम तनिक भी चिन्ता न करो।”

जो लोग बुद्धिमान हैं, वे भगवान् के इस अन्तिम उपदेश पर ध्यान देते हैं। आध्यात्मिक अनुभूति गुह्यज्ञान कहलाती है और आत्म-ज्ञान इस दिशा में पहला कदम है। इसके बाद का कदम ईश-साक्षात्कार है, जो गुह्यतर ज्ञान कहलाता है। ‘भगवद्गीता’ के ज्ञान की चरम परिणति ईश-साक्षात्कार है और जब कोई इस अवस्था को प्राप्त कर लेता है, तो वह स्वेच्छा से भगवान् का भक्त बन कर उनकी दिव्य प्रेमाभक्ति करने लगता है। भगवान् की यह भक्ति सदैव ईशप्रेम पर निर्भर रहती है और कर्म-योग, ज्ञानयोग या ध्यानयोग में स्वीकृत औपचारिक सेवा से भिन्न है। भगवद्गीता में विभिन्न वर्ग के लोगों के लिए विभिन्न उपदेश हैं और वर्णाश्रम धर्म, संन्यास धर्म, यति धर्म, जीवन की विरक्त अवस्था, इन्द्रिय-दमन, ध्यान, यौगिक शक्तियों की सिद्धि इत्यादि के विभिन्न वर्णन मिलते हैं, किन्तु जो व्यक्ति भगवान् की सेवा करने के उद्देश्य से रागानुग प्रेम से उनकी शरण में जाता है, वही वेदों में वर्णित ज्ञान के सार को आत्मसात् कर पाता है। जो इस विधि को कौशल के साथ ग्रहण करता है, वह तुरन्त जीवन की सिद्धि प्राप्त कर लेता है। यही जीवन-सिद्धि ब्रह्मगति कहलाती है। जैसाकि श्रील जीव गोस्वामी ने वैदिक आश्वासनों के आधार पर बताया है ब्रह्मगति का अर्थ है भगवान् जैसा आध्यात्मिक रूप प्राप्त करना और उस रूप में मुक्तजीव परव्योम में किसी एक वैकुण्ठ लोक में नित्य निवास करता है। जीवन की यह सिद्धि भगवान् के शुद्ध भक्त को सिद्धि की कठोर साधना किये बिना प्राप्त होती है।

ऐसा भक्तिमय जीवन कीर्तनम्, स्मरणम्, ईक्षणम् आदि से पूर्ण होता है जैसाकि पिछले श्लोक में उल्लेख हुआ है। अतएव मनुष्य को चाहिए कि भक्तिमय जीवन की इस शैली को ग्रहण करके विश्व के किसी भी भाग में मानव जीवन की किसी भी श्रेणी में सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त करे। जब ब्रह्माजी वृन्दावन में क्रीड़ा करते हुए बालक रूप में भगवान् कृष्ण से मिले, तो उन्होंने इस प्रकार से स्तुति की—

श्रेयः सृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो
क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये ।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते
नान्यद् यथा स्थूलतुषावघातिनाम् ॥

(भागवत १०.१४.४) भक्तियोग उच्चकोटि की सिद्धि है, जिसे बुद्धिमान व्यक्ति, प्रचुर आध्यात्मिक कार्य के बदले में प्राप्त करता है। यहाँ पर दिया गया उदाहरण अत्यन्त उपयुक्त है। मुट्टी भर चावल धान की भूसी के ढेर से कहीं अधिक मूल्यवान होता है। इस प्रकार मनुष्य को चाहिए कि वह कर्मकाण्ड या ज्ञानकाण्ड या योग आसनों के इन्द्रजाल के प्रति आकृष्ट न हो, अपितु प्रामाणिक गुरु के निर्देश में कीर्तनम्, स्मरणम् जैसी सरल विधियों को ग्रहण करके बिना किसी कठिनाई के चरम सिद्धि प्राप्त करे।

तपस्विनो दान-परा यशस्विनो
मनस्विनो मन्त्र-विदः सुमङ्गलाः ।
क्षेमं न विन्दन्ति विना यदर्पणं
तस्मै सुभद्र-श्रवसे नमो नमः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

तपस्विनः—बड़े-बड़े विद्वान् ऋषि; दान-पराः—बड़े-बड़े दानी; यशस्विनः—बड़े-बड़े लब्धप्रतिष्ठ; मनस्विनः—बड़े-बड़े दार्शनिक या योगी; मन्त्र-विदः—वैदिक मन्त्रों के उच्चारण करनेवाले; सु-मङ्गलाः—वैदिक सिद्धान्तों के कटुर अनुयायी; क्षेमम्—सकाम फल; न—कभी नहीं; विन्दन्ति—प्राप्त करते हैं; विना—रहित; यत्-अर्पणम्—समर्पण; तस्मै—उसको; सुभद्र—शुभ; श्रवसे—उसके विषय में सुनकर; नमः—मेरा नमस्कार; नमः—पुनः पुनः ।

मैं समस्त मंगलमय भगवान् श्रीकृष्ण को पुनः पुनः सादर नमस्कार करता हूँ, क्योंकि बड़े-बड़े विद्वान् ऋषि, बड़े-बड़े दानी, यश-लब्ध कार्यकर्ता, बड़े-बड़े दार्शनिक तथा योगी, बड़े

बड़े वेदपाठी तथा बड़े-बड़े वैदिक सिद्धान्तों के बड़े-बड़े अनुयायी तक भी ऐसे महान् गुणों को भगवान् की सेवा में समर्पित किये बिना कोई क्षेम (कुशलता) प्राप्त नहीं कर पाते ।

तात्पर्य : विद्या में प्रगति, दानशीलता, मानव-समाज का राजनीतिक, सामाजिक या धार्मिक नेतृत्व, दार्शनिक चिन्तन, योगाभ्यास, वैदिक अनुष्ठानों में निपुणता तथा मनुष्य के ऐसे ही सारे उत्तम गुण उसकी सिद्धि-प्राप्ति में तभी सहायक बनते हैं जब उनका उपयोग भगवान् की सेवा में किया जाय । ऐसा किये बिना ये सारे गुण मनुष्य के लिए कष्ट के कारण बन जाते हैं । प्रत्येक वस्तु का उपयोग या तो अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए या फिर अपने अतिरिक्त अन्यो की सेवा के लिए हो सकता है । स्वार्थ के भी दो प्रकार हैं—निजी स्वार्थ तथा विस्तारित स्वार्थ । लेकिन इन दोनों प्रकार के स्वार्थों में कोई गुणात्मक यअन्तर नहीं है । चोरी चाहे निजी स्वार्थ के लिए की जाय या पारिवारिक स्वार्थ के लिए, वह एक-जैसी होती है—अर्थात् अपराधमय । यदि कोई चोर अपने लिए नहीं, अपितु समाज या देश के हित के लिए चोरी करने के कारण अपने को निर्दोष बताये, तो किसी भी देश के कानून द्वारा उसे क्षमा नहीं किया जा सकता । सामान्य लोगों को इसका ज्ञान नहीं रहता कि जीव का स्वार्थ तभी पूर्णता को प्राप्त होता है जब ऐसा स्वार्थ भगवान् के स्वार्थ से अभिन्न होता है । उदाहरणार्थ, शरीर तथा आत्मा का एकसाथ पालन-पोषण करने में क्या स्वार्थ है ? मनुष्य शरीर पालने के लिए (निजी या सामाजिक) धन कमाता है, किन्तु जब तक ईश-चेतना न रहे, जब तक शरीर का पालन ईश्वर के साथ अपने सम्बन्ध की अनुभूति प्राप्त करने के लिए न हो तब तक शरीर तथा आत्मा का एकसाथ पालन करने के सारे प्रयास पशु द्वारा शरीर तथा आत्मा का पालन करने के सदृश ही हैं । मनुष्य शरीर के पालन-पोषण का प्रयोजन पशुओं से भिन्न होता है । इसी प्रकार विद्या की प्रगति, आर्थिक विकास, दार्शनिक शोध, वैदिक साहित्य का अध्ययन या कि पुण्यकर्मों को सम्पन्न करना (यथा दान, अस्पताल खोलना, अन्नदान), ये सारे कार्य भगवान् से सम्बन्धित होने चाहिए । ऐसे सारे कार्यों तथा प्रयासों का उद्देश्य भगवान् की प्रसन्नता होना चाहिए, किसी सत्ता, व्यक्ति या समूह की तुष्टि नहीं (*संसिद्धिर्हरि तोषणम्*) । भगवद्गीता (९.२७) में इसी सिद्धान्त की पुष्टि की गई है जहाँ पर यह कहा गया है कि हम जो भी दान दें तथा जो भी तपस्या करें, वह सब भगवान् को अर्पित कर देना चाहिए या उन्हीं के

निमित्त करना चाहिए। ईश्वरविहीन मानवीय सभ्यता के पटु नेतागण, तब तक शैक्षिक उन्नति या आर्थिक उन्नति के विविध प्रयासों में कोई सफलता प्राप्त नहीं कर सकते, जब तक वे ईशभावनाभावित न हों। ईश्वरभावनाभावित होने के लिए मनुष्य को सर्वमंगलमय भगवान् के विषय में उस तरह से श्रवण करना होता है, जिस रूप में *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* में उनका वर्णन हुआ है।

किरात-हूणान्ध-पुलिन्द-पुल्कशा

आभीर-शुम्भा यवनाः खसादयः ।

येऽन्ये च पापा यदपाश्रयाश्रयाः

शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णावे नमः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

किरात—प्राचीन भारत का एक प्रान्त; हूण—जर्मनी तथा रूस का एक अंग; आन्ध्र—दक्षिणी भारत का प्रान्त; पुलिन्द—ग्रीक; पुल्कशाः—अन्य प्रान्त; आभीर—प्राचीन सिंध का एक भाग; शुम्भाः—अन्य प्रान्त; यवनाः—तुर्क; खस-आदयः—मंगोल का प्रान्त; ये—वे भी; अन्ये—अन्य; च—भी; पापाः—पाप में प्रवृत्त रहनेवाले; यत्—जिसका; अपाश्रय-आश्रयाः—भगवद्भक्तों की शरण ग्रहण करके; शुध्यन्ति—तुरन्त शुद्ध हो जाते हैं; तस्मै—उस; प्रभविष्णावे—शक्तिमान विष्णु को; नमः—मेरा सादर नमस्कार।

किरात, हूण, आन्ध्र, पुलिन्द, पुल्कश, आभीर, शुम्भ, यवन, खस आदि जातियों के सदस्य तथा अन्य लोग, जो पाप कर्मों में लिप्त रहते हुए परम शक्तिशाली भगवान् के भक्तों की शरण ग्रहण करके शुद्ध हो सकते हैं, मैं उन भगवान् को सादर नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : किरात—यह प्राचीन भारतवर्ष का एक प्रान्त था जिसका उल्लेख *महाभारत* के 'भीष्मपर्व' में हुआ है। सामान्यतया, किरात भारत के आदिवासियों के रूप में विख्यात हैं और आजकल के बिहार तथा छोटा नागपुर के सन्ताल परगने किरात नामक प्राचीन प्रान्त कहलाते थे।

हूण—पूर्वी जर्मनी का क्षेत्र तथा रूस का एक भाग हूण प्रान्त कहलाते हैं। तदनुसार कभी-कभी पर्वतीय आदिवासी जाति हूण कहलाती है।

आन्ध्र—यह दक्षिण भारत का एक प्रान्त था जिसका उल्लेख *महाभारत* के भीष्मपर्व में मिलता है। यह आज भी इसी नाम से प्रसिद्ध है।

पुलिन्द—इसका उल्लेख *महाभारत* (आदि पर्व १७४.३८) में पुलिन्द नामक प्रान्त के निवासियों के लिए हुआ है। भीमसेन तथा सहदेव ने इस देश को जीता था। ग्रीसवासी *पुलिन्द* कहलाते हैं और *महाभारत* के *वन-पर्व* में उल्लेख हुआ है कि इस भू भाग की अवैदिक जाति संसार के ऊपर राज्य

करेगी। यह पुलिन्द प्रान्त भारत के प्रान्तों में से था और इसके वासियों की गणना क्षत्रिय राजाओं में की जाती थी। किन्तु बाद में, ब्राह्मण संस्कृति का परित्याग कर देने के कारण, उन्हें *म्लेच्छ* कहा गया (जिस प्रकार इस्लामी संस्कृति को न माननेवाले काफिर कहलाते हैं और जो क्रिस्तानी संस्कृति के अनुयायी नहीं हैं, वे 'हीदन्स' कहलाते हैं)।

आभीर—यह नाम *महाभारत* के *सभा-पर्व* तथा *भीष्म-पर्व* दोनों में ही आता है। यह उल्लेख मिलता है कि यह प्रान्त सिंध प्रदेश में सरस्वती नदी के तट पर स्थित था। आधुनिक सिंध प्रान्त पहले अरब सागर के दूसरी ओर भी फैला हुआ था और इस प्रान्त के सारे निवासी आभीर कहलाते थे। ये सब महाराज युधिष्ठिर के अधीन थे और *मार्कण्डेय पुराण* के अनुसार इस भू भाग के *म्लेच्छ* भारत पर भी शासन करेंगे। आगे चलकर यह सही साबित हुआ, जैसाकि पुलिन्दों के साथ हुआ। पुलिन्दों की ओर से सिकन्दर महान् ने भारत को जीता और आभीरों की ओर से मुहम्मद गोरी ने भारत जीता। ये आभीरगण पहले ब्राह्मण-संस्कृति के अन्तर्गत क्षत्रिय थे, किन्तु बाद में उन्होंने सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया। जो क्षत्रिय परशुराम से भयभीत होकर काकेशस के पर्वतीय भागों में छिप गये थे बाद में वे ही आभीर कहलाये और जिस स्थान में वे बस गये, वह आभीर देश कहलाया।

शुम्भ या कंक—ये प्राचीन भारत के कंक प्रान्त के निवासी थे जिनका उल्लेख *महाभारत* में हुआ है।

यवनगण—महाराज ययाति के पुत्र का नाम यवन था जिसे तुर्की नामक भू भाग पर शासन चलाने का भार सौंपा गया। अतएव तुर्क यवन हैं क्योंकि वे महाराज यवन के वंशज हैं। इसलिए यवन लोग क्षत्रिय थे, जो कालान्तर में अपनी ब्राह्मण संस्कृति त्याग कर *म्लेच्छ* यवन बन गये। यवनों के वर्णन *महाभारत* (आदि पर्व ८५.३४) में मिलते हैं। तुर्वसु नामक एक अन्य राजा भी यवन कहलाता था। पाण्डवों में से सहदेव ने उसके देश को जीता। पश्चिमी यवन कर्ण के दबाव से कुरुक्षेत्र के युद्ध में दुर्योधन के साथ सम्मिलित हो गये। यह भविष्यवाणी की गई थी कि यवन लोग भारत को जीत लेंगे और यह खरी उतरी।

खस—खस देश के निवासियों का उल्लेख *महाभारत* (द्रोण पर्व) में हुआ है। जिनके ऊपरी होठ

पर ठिगने केश (मूँछ) उगते हैं, वे सामान्यतया खस कहलाते हैं। फलस्वरूप मंगोल, चीनी तथा अन्य लोग खस हैं।

उपर्युक्त ऐतिहासिक नाम विश्व के विभिन्न राष्ट्रों के नाम हैं। निरन्तर पाप कर्म करते रहनेवाले व्यक्ति भी तो सुधरने पर पूर्ण मनुष्य के स्तर को प्राप्त होते हैं, यदि वे भगवद्भक्त की शरण ग्रहण कर लें। जीसस क्राइस्ट तथा मुहम्मद—इन दो शक्तिशाली भगवद्भक्तों ने इस भू-मंडल में भगवान् की ओर से अपार सेवाएँ की हैं। श्रील शुकदेव गोस्वामी के कथन से प्रतीत होता है कि विश्व की वर्तमान परिस्थिति में ईश्वरविहीन सभ्यता चलाने से अच्छा तो यह होगा कि संसार के मामलों का नेतृत्व भगवद्भक्तों को सौंप दिया जाय जिसके लिए पहले से कृष्णभावनामृत नामक अन्तर्राष्ट्रीय संघ चल रहा है। तब भगवत्कृपा से सारे विश्व के मनुष्यों के हृदयों में परिवर्तन हो सकेगा, क्योंकि भगवद्भक्त सामान्य लोगों के धूलधूसरित मनो को शुद्ध करके ऐसा परिवर्तन ला सकने में सक्षम हैं। संसार के राजनीतिज्ञ अपने-अपने स्थानों में बने रहेंगे, क्योंकि भगवद्भक्तों को नेतृत्व या राजनायिक उलझन में कोई रुचि नहीं रहती। भक्तों को केवल इतनी ही रुचि रहती है कि सामान्य जन राजनीतिक प्रचार से दिग्भ्रमित न हों, लोग ऐसी सभ्यता का अनुसरण करके बिगड़ न जाँय जो अन्ततोगत्वा विनाश की ओर ले जानेवाली हो। अतएव, यदि राजनीतिज्ञ लोग भक्तों से मार्गदर्शन प्राप्त करें तो निश्चय ही भक्तों के शुद्धिकरण आन्दोलन से विश्व की परिस्थिति में महान् परिवर्तन आयेगा जैसाकि भगवान् चैतन्य ने कर दिखाया है। जिस प्रकार शुकदेव गोस्वामी ने अपनी स्तुति यत् *कीर्तनम्* शब्द से प्रारम्भ की है उसी तरह भगवान् चैतन्य ने भी संस्तुति की कि केवल भगवान् के पवित्र नाम के यशोगान से हृदयों में महान् परिवर्तन आयेगा जिससे राजनीतिज्ञों द्वारा मानवीय राष्ट्रों के बीच जो मनोमालिन्य उत्पन्न हुआ है, वह तुरन्त मिट सकेगा। भ्रम की अग्नि बुझ जाने पर दूसरे लाभ भी मिलने लगेंगे। हमारा लक्ष्य भगवद्धाम वापस जाने का है, जिसका उल्लेख हम पिछले पृष्ठों में अनेक बार कर चुके हैं।

भक्ति-सम्प्रदाय के अनुसार, जिसे सामान्यतया वैष्णव सम्प्रदाय कहा जाता है, ईश-साक्षात्कार के विषय में किसी के भी अग्रसर होने पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है। वैष्णव इतना शक्तिसम्पन्न होता है कि वह किरात इत्यादि को भी वैष्णव बना लेता है, जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है। *भगवद्गीता* (९.३२)

में भगवान् ने कहा है कि भगवद्भक्त होने में कोई प्रतिबन्ध नहीं है (यहाँ तक कि निम्न कुल में उत्पन्न व्यक्तियों अथवा स्त्रियों, शूद्रों या वैश्यों पर भी) और भगवद्भक्त होने पर प्रत्येक व्यक्ति भगवद्धाम जाने का भागी बन जाता है। इसके लिए एकमात्र योग्यता यह है कि ऐसे भगवद्भक्त की शरण लेनी चाहिए जिसे कृष्ण के दिव्य विज्ञान (*भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत*) का सम्यक् ज्ञान हो। विश्व के किसी भी भाग का व्यक्ति, जो कृष्ण विज्ञान से अवगत है, शुद्ध भक्त बन सकता है और सामान्य लोगों का गुरु बन कर उनके हृदयों को शुद्ध करके उनका उद्धार कर सकता है। कोई कितना ही बड़ा पापी क्यों न हो, शुद्ध वैष्णव के सम्पर्क से वह तुरन्त शुद्ध हो जाता है। अतएव कोई वैष्णव, विश्व के किसी भी भाग से, जाति-पाँति का विचार किये बिना शिष्य बना सकता है और विधि-विधानों द्वारा उसे शुद्ध वैष्णव का पद दिला सकता है, जो ब्राह्मण संस्कृति से परे है। *वर्णाश्रम-धर्म* की सत्ता अब इस प्रणाली के तथाकथित अनुयायियों में भी नहीं रह गयी है। न ही वर्तमान सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक उथल-पुथल के सन्दर्भ में *वर्णाश्रम धर्म* की पुनःस्थापना कर पाना सम्भव है। किसी भी देश के किसी विशेष रीति-रिवाज का ध्यान रखे बिना आध्यात्मिक दृष्टि से, किसी को वैष्णव-सम्प्रदाय में स्वीकार किया जा सकता है और इस दिव्य विधि में कोई बाधा नहीं है। अतएव भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु के आदेश से *श्रीमद्भागवत* या *भगवद्गीता* सम्प्रदाय का सारे विश्व में प्रचार किया जा सकता है और जो इस दिव्य सम्प्रदाय को स्वीकार करने के इच्छुक हों, उनका उद्धार हो सकता है। भक्तों के इस प्रकार के आन्दोलन को ऐसे सारे लोग स्वीकार करेंगे जो विवेकपूर्ण तथा जिज्ञासु हैं और जो किसी देश की रीति-रिवाज के प्रति द्वेष नहीं रखते। एक वैष्णव दूसरे वैष्णव को जन्म-अधिकार के आधार पर स्वीकार नहीं करता, जिस तरह कि वह मंदिर में स्थित भगवान् के श्रीविग्रह को कभी मूर्ति नहीं मानता। इस सम्बन्ध में सारे संशयों को दूर करने के लिए श्रील शुकदेव गोस्वामी ने सर्वशक्तिमान के आशीर्वाद की कामना की है (*प्रभविष्णवे नमः*)। जिस प्रकार सर्व-शक्तिमान भगवान् मन्दिर में पूजनीय अपने विग्रह के रूप में अर्चन के भक्तिमय कार्यकलापों के अन्तर्गत अपने भक्त की तुच्छ सेवाएँ ग्रहण करते हैं, उसी प्रकार जब शुद्ध वैष्णव भगवान् की सेवा में अपने को अर्पित कर देता है और योग्य वैष्णव द्वारा प्रशिक्षित किया जाता है, तो उसका शरीर तुरन्त ही दिव्य बन जाता है। इस

प्रसंग में वैष्णव नियम का आदेश है— *अर्च्ये विष्णौ शिलाधीर्गुरुषु नरमतिर्वैष्णवे जातिबुद्धिः*

श्रीविष्णोर्नाम्नि शब्दसामान्यबुद्धिः—मनुष्य को चाहिए कि मन्दिर में पूजित भगवान् के श्रीविग्रह को न तो मूर्ति समझे, न वैध गुरु को सामान्य पुरुष समझे; न ही शुद्ध वैष्णव को किसी जाति से सम्बन्धित माने (*पद्म-पुराण*) ।

निष्कर्ष यह निकला कि सर्वशक्तिमान होने के कारण भगवान् किसी भी परिस्थिति में विश्व के किसी भी व्यक्ति को, चाहे स्वयं या गुरु रूप में, अपनी प्रामाणिक अभिव्यक्ति द्वारा स्वीकार कर सकते हैं। भगवान् चैतन्य ने वर्णाश्रम धर्म के अतिरिक्त अन्य जातियों के अनेक भक्तों को स्वीकार किया और हम सबों को शिक्षा देने के लिए यह घोषित किया कि वे स्वयं किसी जाति या वर्ण के नहीं हैं, अपितु वे वृन्दावन की गोपियों के पालनकर्ता भगवान् (कृष्ण) के दासों के दास हैं। यही आत्म-साक्षात्कार की विधि है।

स एष आत्मात्मवतामधीश्वर-

स्त्रयीमयो धर्ममयस्तपोमयः ।

गत-व्यलीकैरज-शङ्करादिभि-

र्वितर्क्य-लिङ्गे भगवान् प्रसीदताम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; एषः—यह है; आत्मा—परमात्मा; आत्मवताम्—स्वरूपसिद्धों का; अधीश्वरः—परमेश्वर; त्रयी-मयः—साक्षात् वेद; धर्म-मयः—साक्षात् शास्त्र; तपः-मयः—साक्षात् तप; गत-व्यलीकैः—आडंबररहितों द्वारा; अज—ब्रह्माजी; शङ्कर-आदिभिः—शिवजी तथा अन्यों द्वारा; वितर्क्य-लिङ्गः—आश्चर्य तथा सम्मान के साथ देखा जानेवाला; भगवान्—भगवान्; प्रसीदताम्—मेरे प्रति दयालु हों।

वे परमात्मा हैं तथा समस्त स्वरूपसिद्ध पुरुषों के परमेश्वर हैं। वे साक्षात् वेद, धर्मग्रंथ (शास्त्र) तथा तपस्या हैं। वे ब्रह्माजी, शिवजी तथा कपट से रहित समस्त व्यक्तियों द्वारा पूजित हैं। आश्चर्य तथा सम्मान से ऐसे पूजित होनेवाले पूर्ण पुरुषोत्तम मुझ पर प्रसन्न हों।

तात्पर्य : यद्यपि भगवान् आत्म-साक्षात्कार के विभिन्न पंथों के अनुयायियों के स्वामी हैं, तो भी वे उन्हीं लोगों द्वारा ज्ञेय हैं, जो आडंबर से परे हैं। प्रत्येक व्यक्ति नित्य शान्ति या शाश्वत जीवन की खोज में रहता है, जिसके लिए वह या तो वैदिक शास्त्रों का या अन्य धर्मशास्त्रों का अध्ययन करता है या ज्ञानमार्गी दार्शनिकों या योगियों अथवा अनन्य भक्तों इत्यादि की तरह भक्ति करता है। लेकिन परमेश्वर

की पूर्ण अनुभूति केवल भक्तों को ही हो पाती है, क्योंकि वे समस्त छल-छद्म से ऊपर होते हैं। जो लोग आत्म-साक्षात्कार के पथ पर होते हैं, वे सामान्यतया कर्मी, ज्ञानी, योगी या भगवद्भक्त के रूप में वर्गीकृत किये जाते हैं। जो कर्मी वैदिक कर्मकाण्डों के सकाम कर्मों के प्रति अत्यधिक आसक्त रहते हैं, वे *भुक्तिकामी* अर्थात् भौतिक-भोग की इच्छा रखनेवाले कहलाते हैं। जो ज्ञानी मानसिक चिन्तन (ज्ञान) द्वारा परमेश्वर से तदाकार होना चाहते हैं, वे *मुक्तिकामी* अर्थात् भौतिक जीवन से मुक्ति के इच्छुक कहलाते हैं। जो योगी आठ प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त करने के लिए विभिन्न प्रकार की तपस्याएँ करते हैं और अन्ततः समाधि में परमात्मा से मिलते हैं, वे *सिद्धिकामी* कहलाते हैं। ये योगी सूक्ष्मतर से सूक्ष्मतर बनने, भारीतर से भारीतर बनने, इच्छित वस्तु प्राप्त करने, सबों पर नियन्त्रण करने, इच्छानुसार वस्तुएँ उत्पन्न करने इत्यादि की इच्छा करते हैं। ये सब शक्तिमान योगी की क्षमताएँ हैं। लेकिन भगवद्भक्त आत्मतुष्टि के लिए इस प्रकार की कोई चीज नहीं चाहते हैं। वे केवल भगवान् की सेवा करना चाहते हैं, क्योंकि भगवान् महान् हैं और जीवात्माओं के रूप में वो भगवान् के नित्य अधीन अंश-प्रत्यंश हैं। भक्त द्वारा इस प्रकार आत्मा की पूर्ण अनुभूति उसे निष्काम बनने में सहायक बनती है और ऐसे भक्त *निष्कामी* कहलाते हैं। जीव अपनी स्वाभाविक स्थिति के कारण समस्त इच्छाओं से रहित नहीं हो सकता (भुक्तिकामी, मुक्तिकामी तथा सिद्धिकामी—सभी आत्मतुष्टि के लिए कुछ न कुछ पाने की इच्छा करते हैं), लेकिन निष्कामी भक्त भगवान् के लिए ही सब कुछ इच्छा करता है। वह भगवान् के आदेशों पर पूरी तरह आश्रित रहता है और भगवान् की तुष्टि के लिए अपना कर्तव्य निभाने के लिए सदैव उद्यत रहता है।

प्रारम्भ में अर्जुन ने अपने को इस प्रकार प्रस्तुत किया मानो वह आत्मतुष्टि का इच्छुक है, क्योंकि वह कुरुक्षेत्र युद्ध में लड़ना नहीं चाह रहा था, लेकिन भगवान् ने उसे निष्काम बनाने के लिए *भगवद्गीता* का उपदेश दिया जिसमें कर्मयोग, ज्ञानयोग, हठयोग तथा भक्तियोग की भी व्याख्या मिलती है। चूँकि अर्जुन निष्कपट था, अतएव उसने अपना निर्णय बदल दिया और युद्ध करने के लिए राजी होकर भगवान् को तुष्ट किया (*करिष्ये वचनं तव*)। इस तरह वह निष्कामी बना।

यहाँ पर ब्रह्माजी तथा शिवजी के उदाहरण जानबूझकर दिये गये हैं, क्योंकि ब्रह्माजी, शिवजी,

श्रीमती लक्ष्मीजी तथा चारों कुमार (सनक, सनातन आदि) ये चारों निष्काम वैष्णव-सम्प्रदायों के अग्रणी हैं। ये सभी सारे छल-छद्मों से रहित हैं। श्रील जीव गोस्वामी *गतव्यलीकैः* शब्द की व्याख्या *प्रोज्झित कैतवैः* के रूप में करते हैं जिसका अर्थ है : वे जो समस्त कपटों से मुक्त हैं (केवल अनन्य भक्त)। *चैतन्य-चरितामृत* (मध्य १९.१४९) में यह कहा गया है—

कृष्णभक्त—निष्काम, अत एव 'शान्त'।

भुक्ति-मुक्ति—सिद्धि-कामी, सकलि 'अशान्त' ॥

जो लोग अपने पुण्यकार्यों के लिए सकाम फल चाहते हैं, जो मुक्ति चाहते हैं तथा ब्रह्म से तदाकार होना चाहते हैं तथा जो योग की सिद्धियों के इच्छुक हैं, वे सभी अशान्त हैं, क्योंकि वे अपने लिए कुछ न कुछ चाहते हैं, लेकिन भक्त तो पूर्ण रूप से शान्त होता है, क्योंकि उसे अपने लिए कुछ भी नहीं चाहिए। किन्तु वह भगवान् की इच्छा पूरी करने के लिए सदैव उद्यत रहता है। अतएव यह निष्कर्ष निकला कि भगवान् सबों के हैं, क्योंकि उनकी मर्जी के बिना कोई भी इच्छित फल प्राप्त नहीं कर सकता, किन्तु जैसाकि भगवान् ने *भगवद्गीता* (८.९) में कहा है, वे ही सबों को ऐसे फल प्रदान करते हैं, क्योंकि वे सबों के—वेदान्तियों, कर्मकाण्डियों धार्मिक नेताओं, तपस्वियों तथा आध्यात्मिक उन्नति के लिए प्रयत्न करने वालों के अधीश्वर (आदि नियन्ता) हैं। लेकिन अन्ततोगत्वा निष्कपट भक्त ही उन्हें प्राप्त कर पाते हैं। इसीलिए श्रील शुकदेव गोस्वामी ने यहाँ पर भक्तिमय सेवा पर विशेष बल दिया है।

श्रियः पतिर्यज्ञ-पतिः प्रजा-पति-

र्धियां पतिर्लोक-पतिर्धरा-पतिः ।

पतिर्गतिश्चान्धक-वृष्णि-सात्वतां

प्रसीदतां मे भगवान् सतां पतिः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

श्रियः—समस्त ऐश्वर्य; पतिः—स्वामी; यज्ञ—यज्ञ का; पतिः—निर्देशक; प्रजा-पतिः—समस्त जीवों के नायक; धियाम्—बुद्धि का; पतिः—स्वामी; लोक-पतिः—समस्त लोकों के स्वामी; धरा—पृथ्वी का; पतिः—परम; पतिः—अग्रणी; गतिः—गन्तव्य; च—भी; अन्धक—यदुवंश के राजाओं में से एक; वृष्णि—यदुवंश का पहला राजा; सात्वताम्—यदुगण; प्रसीदताम्—कृपालु हों; मे—मुझ पर; भगवान्—श्रीकृष्ण; सताम्—भक्तों के; पतिः—स्वामी।

भगवान् श्रीकृष्ण, जो समस्त भक्तों द्वारा पूज्य हैं, यदुवंश के अंधक तथा वृष्णि जैसे समस्त

राजाओं के रक्षक तथा उनके यश हैं, लक्ष्मी देवी के पति, समस्त यज्ञों के निर्देशक अतएव समस्त जीवों के अग्रणी, समस्त बुद्धि के नियन्ता, समस्त दिव्य एवं भौतिक लोकों के अधिष्ठाता तथा पृथ्वी पर परम अवतार (सर्वेसर्वा) हैं, वे मुझ पर कृपालु हों।

तात्पर्य : चूँकि शुकदेव गोस्वामी प्रमुख गतव्यलीक अर्थात् निष्कपट हैं, अतएव वे भगवान् श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में अपनी अनुभूति को समस्त सिद्धियों का सार भगवान् बताते हैं। प्रत्येक व्यक्ति लक्ष्मी जी की कृपा का आकांक्षी रहता है, लेकिन लोग यह नहीं जानते कि भगवान् श्रीकृष्ण लक्ष्मीजी के प्रियतम पति हैं। ब्रह्म-संहिता में कहा गया है कि भगवान् अपने दिव्य धाम गोलोक वृन्दावन में सुरभि गायों को चराते रहते हैं और वहाँ लाखों लक्ष्मियाँ उनकी सेवा करती रहती हैं। ये सारी लक्ष्मियाँ उनकी अन्तरंगा शक्ति के अन्तर्गत ह्लादिनी शक्ति की अभिव्यक्तियाँ हैं और जब भगवान् इस पृथ्वी पर प्रकट हुए हैं, तो उन्होंने इस ह्लादिनी शक्ति के कार्यकलापों का आंशिक प्रदर्शन उन बद्धजीवों को आकृष्ट करने के लिए रासलीला के रूप में किया जो तुच्छ कामवासना की मृगतृष्णा के पीछे दौड़ते रहते हैं। शुकदेव गोस्वामी जैसे भगवान् के शुद्ध भक्त ने जो भौतिक जगत के गर्हित विषयी जीवन से पूर्ण रूप से विरक्त हैं, भगवान् की ह्लादिनी शक्ति के इस कार्य को कामवासना (यौन) से सम्बन्धित करके कभी विवेचन नहीं किया, अपितु उन संसारी लोगों के लिए जो विषयीजीवन के पीछे दौड़ते हैं अचिन्त्य दिव्य रस का आस्वादन कराने के लिए इसका विवेचन किया। संसार में मोह की जंजीरों में बद्ध होने का मूल कारण विषयी जीवन ही है, किन्तु शुकदेव गोस्वामी कभी भी संसारी विषयी जीवन के प्रति रुचि नहीं रखते थे। न ही भगवान् की ह्लादिनी शक्ति की अभिव्यक्ति का ऐसी पतित वस्तुओं से कोई सम्बन्ध होता है। भगवान् चैतन्य एक दृढ़ संन्यासी थे, यहाँ तक कि वे किसी भी स्त्री को अपने निकट नहीं आने देते थे, न ही उन्हें नमन करने तथा प्रणाम करने देते थे। उन्होंने जगन्नाथ मन्दिर में देवदासियों द्वारा की जानेवाली प्रार्थनाएँ तक कभी नहीं सुनीं, क्योंकि संन्यासी को स्त्री जाति द्वारा गाये गये गीत भी सुनने की मनाही है। फिर भी दृढ़ संन्यासी पद पर रहते हुए भी उन्होंने वृन्दावन की गोपियों द्वारा की गई पूजा की विधि को भगवान् की सर्वोच्च प्रेमाभक्ति के रूप में मान्यता दी। श्रीमती राधारानी तो ऐसी लक्ष्मियों में प्रधान हैं, अतएव वे भगवान् की ह्लादिनी अर्धांगिनी हैं और कृष्ण से

अभिन्न हैं।

जीवन में सर्वोच्च लाभ प्राप्त करने के लिए वैदिक अनुष्ठानों में विभिन्न प्रकार के यज्ञों के करने की संस्तुतियाँ की गई हैं। बड़े-बड़े यज्ञ करने से प्राप्त होनेवाले वर अन्ततः लक्ष्मीजी द्वारा की गई कृपा ही हैं और लक्ष्मीजी के पति या प्रियतम होने के कारण भगवान् समस्त यज्ञों के भी स्वामी हैं। वे सभी प्रकार के यज्ञों के अन्तिम भोक्ता हैं, अतएव विष्णु का एक अन्य नाम यज्ञपति भी है। *भगवद्गीता* में संस्तुति की गई है कि प्रत्येक कार्य यज्ञपति के लिए किया जाय (*यज्ञार्थात् कर्मणः*), अन्यथा मनुष्य के कार्य प्रकृति के नियम द्वारा उसके बन्धन का कारण होंगे। जो लोग समस्त भ्रान्त धारणाओं (*व्यलीकम्*) से मुक्त नहीं हैं, वे छोटे-छोटे देवताओं को प्रसन्न करने के लिए यज्ञ करते हैं, लेकिन भगवद्भक्त अच्छी तरह जानते हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण ही समस्त यज्ञ-अनुष्ठानों के परम भोक्ता हैं, अतएव वे संकीर्तन यज्ञ (*श्रवणं कीर्तनं विष्णोः*) करते हैं, जो इस कलियुग के लिए विशेषरूप से संस्तुत है। कलियुग में अन्य प्रकार के यज्ञों को सम्पन्न करना सम्भव नहीं है, क्योंकि व्यवस्था अपर्याप्त है और कुशल पुरोहित भी नहीं मिल पाते।

भगवद्गीता से (३.१०-११) हमें यह सूचना मिलती है कि ब्रह्मा ने, ब्रह्माण्ड में बद्धजीवों को जन्म देने के पश्चात्, उन्हें यज्ञ करने तथा सम्पन्न जीवन बिताने का आदेश दिया। ऐसे यज्ञों के सम्पन्न करने से बद्धजीवों को कभी भी जीवन-निर्वाह करने में कठिनाई नहीं होती। अन्ततोगत्वा वे अपने जीवन को शुद्ध कर सकते हैं। वे देखेंगे कि उनकी उन्नति आध्यात्मिक जगत में सहज में ही हो गई है और जीव का वही वास्तविक स्वरूप है। बद्धजीव को चाहिए कि वह कभी भी यज्ञ, दान तथा तपस्या का परित्याग किसी भी दशा में न करे। ऐसे सभी यज्ञों का उद्देश्य यज्ञपति अर्थात् भगवान् को प्रसन्न करना है, इसीलिए भगवान् प्रजापति भी हैं। *कठोपनिषद्* के अनुसार अकेले भगवान् असंख्य जीवों के नायक हैं। सारे जीव भगवान् द्वारा पालित हैं (*एको बहूनां यो विदधाति कामान्*) इसीलिए भगवान् परम भूतभृत् या सभी जीवों के पालक कहलाते हैं।

जीवों को उनके पूर्वकर्मों के अनुसार ही बुद्धि प्रदान की जाती है। सारे जीवों को एकसमान गुणवाली बुद्धि प्रदान नहीं की जाती क्योंकि बुद्धि के ऐसे विकास के पीछे भगवान् का नियन्त्रण रहता

है जैसाकि *भगवद्गीता* (१५.१५) में घोषणा की गई है। परमात्मा-रूप में भगवान् जन-जन के हृदय में वास करते हैं और उन्हीं से स्मृति, ज्ञान की शक्ति तथा विस्मृति आती है (*मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च*)। एक व्यक्ति भगवत्कृपा से अपने पूर्वकर्मों को भलीभाँति स्मरण कर सकता है जब कि दूसरा व्यक्ति नहीं कर पाता। कोई व्यक्ति भगवत्कृपा से अत्यधिक बुद्धिमान होता है, किन्तु उसी नियन्त्रण से दूसरा व्यक्ति मूर्ख होता है। अतएव भगवान् धियाम्पति अथवा बुद्धि के स्वामी हैं।

बद्धजीव भौतिक जगत के स्वामी बनने का प्रयास करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपनी उच्चतम बुद्धि का प्रयोग करके भौतिक प्रकृति पर प्रभुत्व जताना चाहता है। बद्धजीव द्वारा बुद्धि का यह दुरुपयोग पागलपन कहलाता है। मनुष्य को अपनी बुद्धि का उपयोग *भवबन्धन* से मुक्त होने के लिए करना चाहिए। लेकिन बद्धजीव अपने पागलपन के कारण इन्द्रियतृप्ति में ही सारी शक्ति तथा बुद्धि लगा देता है और इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए वह सभी प्रकार के दुष्कर्म करता है। परिणाम यह होता है कि पागल बद्धजीव मुक्त जीवन प्राप्त न करके पुनः पुनः अनेक प्रकार के बन्धनों में पड़ता रहता है। भौतिक जगत में हम जो कुछ देखते हैं, वह भगवान् की ही सृष्टि है। अतएव समस्त ब्रह्माण्डों में प्रत्येक वस्तु के वे ही असली स्वामी हैं। बद्धजीव भगवान् के वश में रहकर इस सृष्टि के एक अंश का ही भोग कर सकता है, लेकिन आत्म-निर्भर बनकर नहीं। यही *ईशोपनिषद्* का उपदेश है। मनुष्य को ब्रह्माण्ड के स्वामी द्वारा प्रदत्त वस्तुओं से सन्तुष्ट रहना चाहिए। यह तो निरा पागलपन है कि कोई दूसरे के हिस्से की भौतिक सम्पत्ति में अधिकार जताने का प्रयास करता है।

ब्रह्माण्ड के स्वामी बद्धजीवों पर अपनी अहैतुकी कृपावश अपनी ही शक्ति (आत्म-माया) द्वारा बद्धजीवों के साथ नित्य सम्बन्ध स्थापित करने के लिए अवतरित होते हैं। वे सबों को उनके नियन्त्रण में कुछ हद तक झूठे ही भोक्ता बनने के बजाय अपनी शरण में आने के लिए आदेश देते हैं। जब वे इस तरह अवतरित होते हैं, तो वे यह दिखा देते हैं कि उनमें भोगने का कितना बड़ा सामर्थ्य है और वे एकसाथ सोलह हजार पत्नियों के साथ विवाह करके भोग की अपनी शक्ति का प्रदर्शन उदाहरण के तौर पर करते हैं। बद्धजीव केवल एक पत्नी का पति बनकर गर्व का अनुभव करता है, लेकिन भगवान् इस पर हँसते हैं; बुद्धिमान व्यक्ति जान सकता है कि असली पति कौन है। वास्तव में भगवान् ही

अपनी सृष्टि की सारी स्त्रियों के पति हैं, लेकिन भगवान् के वशीभूत बद्धजीव अपने को एक या दो पत्नियों का पति होने पर गर्व का अनुभव करता है।

इस श्लोक में वर्णित विभिन्न प्रकार के पतियों की ये योग्यताएँ भगवान् श्रीकृष्ण को ही शोभा देती हैं, अतएव शुकदेव गोस्वामी ने यदुवंश के पति तथा गति का विशेष उल्लेख किया है। यदुवंश के सभी सदस्य जानते थे कि श्रीकृष्ण ही सब कुछ हैं और जब उन्होंने पृथ्वी पर अपनी दिव्य लीलाएँ समाप्त कर लीं, तो वे सभी उनके पास लौटना चाह रहे थे। यदुवंश का विनाश भगवान् की इच्छा से हुआ, क्योंकि इसके सदस्यों को भगवान् के साथ भगवद्धाम वापस जाना था। यदुवंश का संहार परमेश्वर द्वारा सृजित एक भौतिक प्रदर्शन था अन्यथा यदुवंश के सारे सदस्य तथा भगवान् नित्य संगी थे। अतएव भगवान् समस्त भक्तों के मार्गदर्शक हैं, इसीलिए शुकदेव गोस्वामी ने प्रेमपूरित भावों से भगवान् को सादर नमस्कार किया।

यदद्भ्यभिध्यान-समाधि-धौतया

धियानुपश्यन्ति हि तत्त्वमात्मनः ।

वदन्ति चैतत् कवयो यथा-रुचं

स मे मुकुन्दो भगवान् प्रसीदताम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

यत्-अङ्घ्रि—जिसके चरणकमल; अभिध्यान—प्रत्येक क्षण चिन्तन करते; समाधि—समाधि; धौतया—धुल जाने से; धिया—ऐसी विमल बुद्धि से; अनुपश्यन्ति—महापुरुषों का अनुसरण करते हुए देखते हैं; हि—निश्चय ही; तत्त्वम्—परम सत्य को; आत्मनः—परमेश्वर का तथा अपना; वदन्ति—कहते हैं; च—भी; एतत्—यह; कवयः—दार्शनिक या विद्वान् पंडित; यथा-रुचम्—जैसा वह सोचता है; सः—वह; मे—मेरा; मुकुन्दः—भगवान् कृष्ण (जो मुक्ति के दाता हैं); भगवान्—भगवान्; प्रसीदताम्—मुझ पर प्रसन्न हों।

भगवान् श्रीकृष्ण ही मुक्तिदाता हैं। भक्त प्रतिपल उनके चरण-कमलों का चिन्तन करके और महापुरुषों के चरणचिन्हों पर चलते हुए समाधि में परम सत्य का दर्शन कर सकता है। तथापि विद्वान् ज्ञानीजन उनके विषय में अपनी सनक के अनुसार चिन्तन करते हैं। ऐसे भगवान् मुझ पर प्रसन्न हों।

तात्पर्य : योगी-जन इन्द्रियों को वश में करने का कठिन प्रयास करके प्रत्येक के भीतर स्थित परमात्मा की झलक पाने के लिए योग की समाधि में स्थित होते हैं, किन्तु शुद्ध भक्त प्रतिपल भगवान् के चरणकमलों का स्मरण करते हुए वास्तविक समाधि को तुरन्त ही प्राप्त होते हैं, क्योंकि ऐसी

अनुभूति के द्वारा उनके मन तथा बुद्धि भवरोग से धुल कर पूर्ण रूप से स्वच्छ हो जाते हैं। शुद्ध भक्त अपने आपको जन्म-मृत्यु के सागर में पतित हुआ सोचता है, अतएव वह अपने को उबारने के लिए भगवान् से निरन्तर प्रार्थना करता है। वह भगवान् के चरणकमलों की धूलि का एक कण बनना चाहता है। शुद्ध भक्त भगवत्कृपा से भौतिक भोग के सारे आकर्षण से पूरी तरह रहित हो जाता है और कल्मष से दूर रहने के लिए वह निरन्तर भगवान् के चरणकमलों का चिन्तन करता रहता है। भगवान् के परम भक्त राजा कुलशेखर ने प्रार्थना की है—

कृष्ण त्वदीयपदपंकजपञ्जरान्तम्

अद्यैव मे विशतु मानसराजहंसः ।

प्राणप्रयाणसमये कफवातपित्तैः

कण्ठावरोधनविधौ स्मरणं कुतस्ते ॥

“हे भगवान् कृष्ण! मेरी प्रार्थना है कि मेरा मन रूपी हंस तुरन्त आपके चरणकमल के डंठलों तक डूब कर उनके जाल में उलझ जाय अन्यथा मृत्यु के समय, जब मेरा गला कफ से रुद्ध हो जायेगा, तो भला मैं आपका चिन्तन कैसे कर सकूँगा?”

हंस तथा कमलनाल के मध्य घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतएव यह उपमा अत्यन्त उपयुक्त है: हंस या परमहंस बने बिना भगवान् के चरणकमलों के डंठलों के जाल तक प्रवेश कर पाना असम्भव है। जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है कि ज्ञानी अपने पाण्डित्य के बावजूद अनन्त काल तक चिन्तन करने पर भी परम सत्य का स्वप्न तक नहीं देख सकता। भगवान् को अधिकार है कि ऐसे *ज्ञानियों* के समक्ष प्रकट न हों और चूँकि ऐसे लोग भगवान् के चरणकमलों के डंठलों के जाल में प्रवेश नहीं कर पाते, अतएव सारे ज्ञानी अपना-अपना निष्कर्ष निकालते हैं और अन्त में अपनी-अपनी रुचि के अनुसार (*यथारुचम्*) यह कहकर समझौता करते हैं “जितने पंथ उतने मत”। लेकिन भगवान् कोई दुकानदार तो हैं नहीं जो ज्ञान के विनिमय में सभी प्रकार के ग्राहकों को प्रसन्न करने का प्रयास कर सकें। भगवान् तो पूर्ण पुरुषोत्तम परमेश्वर हैं और वे चाहते हैं कि वे लोग पूर्ण रूप से उनके ही शरणागत हों। लेकिन शुद्ध भक्त पूर्ववर्ती आचार्यों के पथ का अनुसरण करते हुए अपने गुरु के पारदर्शी

माध्यम से परमेश्वर का दर्शन कर सकता है (अनुपश्यन्ति)। शुद्ध भक्त मानसिक चिन्तन (ज्ञान) द्वारा भगवान् का दर्शन करने का प्रयास कभी नहीं करता अपितु वह आचार्यों के पदचिह्नों पर चलता है (महाजनो येन गतः स पन्थाः)। अतएव वैष्णव आचार्यों में भगवान् तथा भक्तों को लेकर कोई भेद नहीं रहता। भगवान् चैतन्य जोर देकर कहते हैं कि जीव भगवान् का नित्य दास है और वह एक ही साथ भगवान् से एक तथा पृथक् है। भगवान् चैतन्य के इस तत्त्व को वैष्णव मत के चारों सम्प्रदाय समान रूप से मानते हैं (मोक्ष के बाद भी भगवान् की नित्य दासता सभी स्वीकार करते हैं) और ऐसा कोई वैध वैष्णव आचार्य नहीं है, जो भगवान् तथा अपने आपको एक सोच सके।

भगवान् की सेवा में शत प्रतिशत लगे रहनेवाले भक्त की यह विनम्रता भगवद्भक्त को समाधि दशा प्राप्त कराती है, जिससे वह प्रत्येक वस्तु की अनुभूति करता है, क्योंकि भगवान् निष्ठावान भक्त के समक्ष प्रकट होते हैं जैसाकि भगवद्गीता (१०.१०) में कहा गया है। भगवान् प्रत्येक व्यक्ति की बुद्धि के स्वामी होने से (यहाँ तक कि अभक्तों के भी) अपने भक्त को समुचित बुद्धि प्रदान करते हैं जिससे भक्त स्वतः भगवान् तथा उनकी विभिन्न शक्तियों के विषय में असली तथ्यों से अवगत हो जाता है। भगवान् न तो किसी की चिन्तन शक्ति से, न परम सत्य विषयक वाग्जाल से प्रकट होते हैं। वे भक्त के समक्ष तभी प्रकट होते हैं जब भक्त के सेवा-भाव की प्रवृत्ति से पूर्ण रूप से संतुष्ट होते हैं। शुकदेव गोस्वामी न तो चिन्तक हैं, न ही 'जितने पंथ उतने मत' सिद्धान्त के समर्थक हैं। अपितु वे केवल भगवान् से उनके दिव्य आनन्द का आह्वान करते हुए प्रार्थना करते हैं। भगवान् को जानने का यही तरीका है।

प्रचोदिता येन पुरा सरस्वती

वितन्वताजस्य सतीं स्मृतिं हृदि ।

स्व-लक्षणा प्रादुरभूत् किलास्यतः

स मे ऋषीणामृषभः प्रसीदताम् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

प्रचोदिता—प्रेरित; येन—जिसके द्वारा; पुरा—सृष्टि के प्रारम्भ में; सरस्वती—विद्या की देवी; वितन्वता—विस्तारित; अजस्य—प्रथम जीव ब्रह्मा का; सतीं स्मृतिं—शक्तिशाली स्मरण शक्ति; हृदि—हृदय में; स्व—अपना; लक्षणा—लक्षित; प्रादुरभूत्—उत्पन्न किया गया; किल—मानो; आस्यतः—मुँह से; सः—वह; मे—मुझ पर; ऋषीणाम्—शिक्षकों का; ऋषभः—प्रमुख; प्रसीदताम्—प्रसन्न हों।

जिन्होंने सृष्टि के प्रारम्भ में ब्रह्मा के हृदय में शक्तिशाली ज्ञान का विस्तार किया और सृष्टि तथा अपने विषय में पूर्ण ज्ञान की प्रेरणा दी और जो ब्रह्मा के मुख से प्रकट हुए प्रतीत हुए, वे भगवान् मुझ पर प्रसन्न हों।

तात्पर्य : हम पहले ही यह बता चुके हैं, कि ब्रह्मा से लेकर क्षुद्र चींटी तक सारे जीवों के परमात्मा-रूप में भगवान् प्रत्येक जीव को वांछित ज्ञान प्रदान करते हैं। प्रत्येक जीव भगवान् से ५०:६४ के अनुपात में या पूर्ण ज्ञान का ७८% अर्जित करने की क्षमता रखता है। चूँकि जीव भगवान् का स्वाभाविक अंशमात्र है, अतएव वह भगवान् के सम्पूर्ण ज्ञान को आत्मसात् करने में असमर्थ होता है। बद्ध अवस्था में जीव, शरीर के परिवर्तन या मृत्यु के साथ सब कुछ भूल जाता है। यही ज्ञान पुनः प्रत्येक जीव में भगवान् द्वारा जीव के हृदय के भीतर से प्रेरित किया जाता है और यही ज्ञान की जागृति कहलाती है, क्योंकि यह निद्रा या अचेतनावस्था से जागरण के तुल्य है। यह ज्ञान की जागृति भगवान् के पूर्ण रूप से अधीन है, अतएव व्यवहारजगत में विभिन्न व्यक्तियों में ज्ञान की विभिन्न कोटियाँ पाई जाती हैं। यह ज्ञान की जागृति न तो स्वतः घटित होती है, न भौतिक अन्तःक्रिया है। इसकी पूर्ति करनेवाले साक्षात् भगवान् हैं (*धियां पतिः*), क्योंकि ब्रह्मा तक परम स्रष्टा के इस नियम के अधीन हैं। सृष्टि के प्रारम्भ में ब्रह्मा माता-पिता के बिना उत्पन्न होते हैं, क्योंकि तब कोई अन्य जीव न था। ब्रह्मा उस कमल से उत्पन्न होते हैं, जो गर्भोदकशायी विष्णु की नाभि से प्रकट होता है और इसीलिए वे अज कहलाते हैं। ये ब्रह्मा या अज भी भगवान् के अंशरूप जीव हैं, लेकिन भगवान् के परम पवित्र भक्त होने के नाते, भगवान् मुख्य सृष्टि कर लेने के बाद प्रकृति के द्वारा उन्हें सृष्टि करने की प्रेरणा देते हैं। अतएव न तो प्रकृति, न ही ब्रह्मा भगवान् से स्वतन्त्र हैं। भौतिक विज्ञानी प्रकृति की प्रतिक्रियाओं का अवलोकन ही कर सकते हैं, वे ऐसे कार्यकलापों के पीछे कार्यरत निर्देशन को नहीं समझ पाते जिस तरह कि एक शिशु बिजली के करतब को तो देखता है, किन्तु उसे बिजलीघर के इंजीनियर का कोई ज्ञान नहीं होता। भौतिक विज्ञानी का यह अपूर्ण ज्ञान उसकी अल्पज्ञता के कारण है। अतएव वैदिक ज्ञान सर्वप्रथम ब्रह्मा के अन्तःकरण में प्रविष्ट कराया गया जिससे ऐसा लगता है कि ब्रह्मा ही वैदिक ज्ञान का वितरण करनेवाले हैं। निस्सन्देह, ब्रह्मा वैदिक ज्ञान के प्रवक्ता हैं, किन्तु वास्तव में भगवान् ने

ही उन्हें ऐसा दिव्य ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्रेरित किया, क्योंकि यह ज्ञान सीधे भगवान् से अवतरित होता है। इसीलिए वेदों को अपौरुषेय अर्थात् किसी सृजित जीव द्वारा प्रदत्त न किये गये, कहा जाता है। सृष्टि के पूर्व भगवान् उपस्थित थे (*नारायणः परोऽव्यक्तात्*), अतएव भगवान् द्वारा उच्चरित शब्द दिव्य ध्वनि की लहरियाँ हैं। ध्वनि के दो प्रकारों, *प्राकृत* तथा *अप्राकृत*, में बहुत बड़ा अन्तर है। भौतिक-शास्त्री केवल *प्राकृत* ध्वनि या भौतिक आकाश में स्पन्दित ध्वनि पर ही विचार कर सकता है, अतएव हमें यह जान लेना चाहिए कि सांकेतिक अभिव्यंजनाओं के रूप में अंकित वैदिक ध्वनियाँ इस ब्रह्माण्ड में किसी के द्वारा तब तक नहीं समझी जा सकतीं जब तक उन्हें *अप्राकृत* ध्वनि के स्पन्दनों द्वारा प्रेरित न किया जाय जो शिष्य-परम्परा द्वारा भगवान् से ब्रह्मा को, ब्रह्मा से नारद को, नारद से व्यास को और आगे इसी क्रम में प्राप्त होती है। कोई भी संसारी विद्वान वैदिक मन्त्रों के असली आशय को न तो प्रकट कर सकता है, न उनको अनुदित कर सकता है। इन्हें तब तक नहीं समझा जा सकता जब तक कोई वैध गुरु द्वारा प्रेरित या दीक्षित न होले। आदि गुरु तो स्वयं भगवान् हैं और परम्परा से यह ज्ञान चलता रहा है जैसाकि *भगवद्गीता* के चतुर्थ अध्याय में स्पष्ट कहा गया है। अतएव दिव्य ज्ञान जब तक किसी वैध परम्परा से प्राप्त नहीं होता, तब तक उसे विफल (*विफला मताः*) मानना चाहिए, भले ही वह कला या विज्ञान में कितनी ही प्रगति क्यों न कर ले।

शुकदेव गोस्वामी अपने अन्तःकरण में भगवान् द्वारा प्रेरित होकर ही भगवान् से प्रार्थना कर रहे हैं जिससे वे महाराज परीक्षित द्वारा पूछे गये सृष्टि-सम्बन्धी तथ्यों को सही-सही बतला सकें। गुरु संसारी विद्वान की तरह, सैद्धान्तिक चिन्तक नहीं होता, अपितु वह *श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्* होता है।

भूतैर्महद्भिर्य इमाः पुरो विभु-

निर्माय श्रेते यदमूषु पूरुषः ।

भुङ्क्ते गुणान् षोडश षोडशात्मकः

सोऽलङ्कृषीष्ट भगवान् वचांसि मे ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

भूतैः—तत्त्वों के द्वारा; महद्भिः—भौतिक सृष्टि के; यः—जो; इमाः—ये सब; पुरः—शरीर; विभुः—भगवान् के; निर्माय—तैयार करने के लिए; श्रेते—लेटते हैं; यत् अमूषु—अवतीर्ण होनेवाला; पूरुषः—भगवान् विष्णु; भुङ्क्ते—प्रभावित करते हैं; गुणान्—तीनों गुणों को; षोडश—सोलह भागों में; षोडश-आत्मकः—इन सोलह का जनक होने से; सः—वह; अलङ्कृषीष्ट—सुसज्जित करे; भगवान्—भगवान्; वचांसि—वाणी को; मे—मेरी।

ब्रह्माण्ड के भीतर लेटकर जो तत्त्वों से निर्मित शरीरों को प्राणमय बनाते हैं और जो अपने पुरुष-अवतार में जीव को भौतिक गुणों के सोलह विभागों को, जो जीव के जनक रूप हैं अधीन करते हैं, वे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् मेरे प्रवचनों को अलंकृत करने के लिए प्रसन्न हों।

तात्पर्य : पूर्ण आश्रित भक्त के रूप में (अपनी सामर्थ्य पर गर्व करनेवाले संसारी व्यक्ति से सर्वथा विपरीत) शुकदेव गोस्वामी भगवान् से प्रसन्न होने के लिए प्रार्थना करते हैं जिससे उनके प्रवचन सफल हो और श्रोताओं द्वारा समादृत हो। भक्त सदैव अपने आपको किसी भी सफलता में निमित्त मात्र मानता है और अपने द्वारा किये गये किसी भी कृत्य का श्रेय लेने से इनकार करता है, जबकि ईशविहीन नास्तिक कार्यकलापों का सारा श्रेय लेना चाहता है, जो यह भी नहीं जानता कि परमात्मा भगवान् की मर्जी के बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता। अतएव शुकदेव गोस्वामी उन परमेश्वर के निर्देशानुसार आगे बढ़ना चाहते हैं, जिन्होंने ब्रह्माजी को वैदिक ज्ञान व्यक्त करने के लिए प्रेरणा दी। वैदिक ग्रंथों में वर्णित सत्य न तो संसारी कल्पना के सिद्धान्त हैं, न वे कपोलकल्पित हैं जैसाकि अल्पज्ञ लोग कभी-कभी सोचते हैं। वैदिक सत्य वास्तविक सत्य के पूर्ण विवरण हैं जिनमें न तो त्रुटि है, न भ्रम। शुकदेव गोस्वामी सृष्टि सम्बन्धी सत्यों को वास्तविक तथ्यों के रूप में प्रस्तुत करना चाहते हैं, न कि दार्शनिक चिन्तक के किसी तत्त्व-ज्ञान के सिद्धान्त के रूप में, क्योंकि वे उसी तरह भगवान् के इशारे पर चलेंगे जिस तरह ब्रह्माजी अनुप्राणित हुए थे। जैसाकि *भगवद्गीता* (१५.१५) में कहा गया है, भगवान् स्वयं वेदान्त-ज्ञान के जनक हैं और वेदान्त-दर्शन के वास्तविक तात्पर्य को जाननेवाले एकमात्र वही हैं। अतएव वेदों में वर्णित धर्म के सिद्धान्तों से बढ़कर कोई सत्य नहीं है। ऐसा वैदिक ज्ञान या धर्म शुकदेव गोस्वामी जैसे प्रामाणिक पुरुष द्वारा फैलता है क्योंकि वे भगवान् के विनीत दास थे जिन्हें स्व-नियुक्त व्याख्याकार बनने की कोई इच्छा न थी। वैदिक ज्ञान की व्याख्या की यही विधि है, जिसे *परम्परा* प्रणाली कहते हैं।

बुद्धिमान व्यक्ति यह देख सकता है कि चाहे कोई भी भौतिक सृष्टि (चाहे अपना शरीर हो, या फल या फूल) हो, आध्यात्मिक स्पर्श के बिना वह सुन्दरता के साथ वृद्धि नहीं कर पाती। संसार का सर्वाधिक बुद्धिमान व्यक्ति या विज्ञानी किसी भी वस्तु को तभी ढंग से प्रस्तुत कर सकता है जब उसमें

जीवन हो या आध्यात्मिक स्पर्श हो। अतएव समस्त सत्त्यों का स्रोत परमात्मा है, स्थूल पदार्थ नहीं, जैसाकि भ्रमवश निपट भौतिकतावादी सोचता है। वैदिक साहित्य से हमें पता चलता है कि सर्वप्रथम भगवान् ने भौतिक ब्रह्माण्ड के शून्य में प्रवेश किया और तब सारी वस्तुएँ एक-एक करके विकसित हुईं। इसी प्रकार भगवान् परमात्मा के रूप में प्रत्येक प्राणी के घर-घर में स्थित हैं, अतएव उनके द्वारा सारे कार्य अच्छे ढंग से सम्पन्न होते हैं। सोलह प्रमुख सृजनकारी तत्त्व, जिनके नाम हैं पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश तथा ग्यारह इन्द्रियाँ, साक्षात् भगवान् से विकसित हुए और तब जीवों में बँट गए। इस तरह भौतिक तत्त्वों का सृजन जीवों के भोग के लिए किया गया। अतएव समस्त भौतिक अभिव्यक्तियों के पीछे जो सुन्दर व्यवस्था है, वह भगवान् की शक्ति द्वारा सम्भव होती है और प्रत्येक जीव उसे ठीक से समझने के लिए भगवान् से प्रार्थना ही कर सकता है। चूँकि भगवान् परम चेतना हैं और शुकदेव गोस्वामी से भिन्न हैं, अतएव उनकी प्रार्थना की जानी चाहिए। भगवान् भौतिक सृष्टि का भोग करने में जीव की सहायता करते हैं, किन्तु वे ऐसे झूठे भोग से पृथक् रहते हैं। शुकदेव गोस्वामी भगवान् से कृपा करने के लिए प्रार्थना करते हैं जिससे वे सत्य को प्रस्तुत करने में स्वयं सहायता पाने के साथ-साथ उन लोगों की भी सहायता करें जिन्हें वे सुनाने जा रहे हैं।

नमस्तस्मै भगवते वासुदेवाय वेधसे ।

पपुर्ज्ञानमयं सौम्या यन्मुखाम्बुरुहासवम् ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

नमः—मेरा नमस्कार है; तस्मै—उस; भगवते—भगवान् को; वासुदेवाय—वासुदेव या उनके अवतारों को; वेधसे—वैदिक ग्रंथों के संकलनकर्ता; पपुः—पान किया गया; ज्ञानम्—ज्ञान; अयम्—यह वैदिक ज्ञान; सौम्याः—भक्तगण, विशेष रूप से भगवान् कृष्ण की प्रेमिकाएँ; यत्—जिनके; मुख-अम्बुरुह—कमल सदृश मुख का; आसवम्—अमृत।

मैं साक्षात् वासुदेव के अवतार उन श्रील व्यासदेव को सादर नमस्कार करता हूँ जिन्होंने वैदिक शास्त्रों का संकलन किया। शुद्ध भक्तगण भगवान् के कमल सदृश मुख से टपकते हुए अमृतोपम दिव्य ज्ञान का पान करते हैं।

तात्पर्य : वेधसे शब्द की व्याख्या करते हुये श्रील श्रीधर स्वामी ने टीका की है कि इस शब्द द्वारा श्रील व्यासदेव को सादर नमस्कार किया गया है, जो वासुदेव के अवतार हैं। श्रील जीव गोस्वामी ने इसे स्वीकार किया है, लेकिन श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर एक कदम आगे हैं कि भगवान् कृष्ण के

मुख से टपकता अमृत उनकी विभिन्न प्रेमिकाओं के मुखों में चला जाता है, जिससे वे संगीत, नृत्य, वेशसजा, अलंकरण जैसी ललित कलाएँ एवं वे सारी बातें जानती हैं, जो भगवान् को आस्वाद्य हैं। भगवान् द्वारा आस्वाद्य ऐसा संगीत, नृत्य तथा अलंकरण संसारी नहीं होता, क्योंकि भगवान् को प्रारम्भ में ही परम् अर्थात् दिव्य कहकर सम्बोधित किया गया है। भुलकड़ बद्ध-जीवों को यह दिव्य ज्ञान अज्ञात है। भगवान् के अवतार श्रील व्यासदेव ने वैदिक साहित्य का इसीलिये संकलन किया जिससे बद्धजीव भगवान् के साथ अपने विसरे हुए सम्बन्धों को फिर से स्मरण कर सकें, अतएव मनुष्य को चाहिए कि वह वैदिक शास्त्रों को, या कहें कि माधुर्य रस में भगवान् द्वारा अपनी प्रेमिकाओं को किये गये अमृत दान को, समझने के लिए व्यासदेव या शुकदेव के कमलमुख से सुनें। दिव्य ज्ञान के क्रमिक विकास द्वारा मनुष्य संगीत तथा नृत्य की उस दिव्य कला को प्राप्त हो सकता है, जिसे भगवान् ने अपनी रासलीला के समय प्रदर्शित किया। लेकिन वैदिक ज्ञान के अभाव में भगवान् के रास-नृत्य तथा संगीत की दिव्य प्रकृति को समझ पाना कठिन है। किन्तु भगवान् के शुद्ध भक्त इस अमृत का आस्वादन अगाध दार्शनिक वार्ताओं के रूप में तथा रास-नृत्य में भगवान् द्वारा चुम्बन के रूप में करते हैं, क्योंकि इन दोनों में कोई भौतिक अन्तर नहीं है।

एतदेवात्म-भू राजन् नारदाय विपृच्छते ।

वेद-गर्भोऽभ्यधात् साक्षाद् यदाह हरिरात्मनः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

एतत्—इस विषय में; एव—इसी तरह; आत्म-भूः—प्रथम जन्मा (ब्रह्माजी); राजन्—हे राजा; नारदाय—नारदमुनि से; विपृच्छते—पूछा जाकर; वेद-गर्भः—जन्म से ही वैदिक ज्ञान से संपृक्त है, जो; अभ्यधात्—बतलाया; साक्षात्—प्रत्यक्ष; यत् आह—उसने जो कहा; हरिः—भगवान्; आत्मनः—अपने ही से(ब्रह्मा से)।

हे राजन्, नारद द्वारा पूछे जाने पर प्रथम-जन्मा ब्रह्माजी ने इस विषय में ठीक वही बात बतलाई जो भगवान् ने अपने पुत्र (ब्रह्मा) से प्रत्यक्ष कही थी जो जन्म से ही वैदिक ज्ञान से संपृक्त थे।

तात्पर्य : ज्योंही विष्णु के नाभि-कमल से ब्रह्मा का जन्म हुआ, वे वैदिक ज्ञान से संपृक्त थे, अतएव वे वेदगर्भ या जन्म से वेदान्ती कहलाते हैं। वैदिक ज्ञान के या कि पूर्ण अच्युत ज्ञान के बिना कोई भी सृष्टि नहीं कर सकता। सारा वैज्ञानिक ज्ञान तथा पूर्ण ज्ञान वैदिक है। वेदों से सभी तरह की

जानकारी प्राप्त की जा सकती हैं। इसीलिए ब्रह्माजी परिपूर्ण ज्ञान से संपृक्त थे जिससे वे सृष्टि करने में समर्थ हो सके। अतएव ब्रह्माजी सृष्टि के पूर्ण विवरण से अवगत थे, क्योंकि भगवान् हरि ने उन्हें इससे अवगत कराया था। जब नारद ने ब्रह्मा से जिज्ञासा की तो उन्होंने नारद को ठीक उसी तरह सुनाया जैसा उन्होंने साक्षात् भगवान् से सुना था। नारद ने ठीक यही बात व्यास को बताई और व्यास ने भी शुकदेव गोस्वामी को उसी रूप में सुनाया जिस तरह उन्होंने नारद से सुन रखा था। शुकदेव गोस्वामी वे ही बातें अब सुनाने जा रहे थे जिन्हें उन्होंने व्यास से सुना था। वैदिक ज्ञान को समझने की यही विधि है। केवल उपर्युक्त परम्परा द्वारा ही वेदों की भाषा समझी जा सकती है, अन्यथा नहीं।

सिद्धान्तों से कोई लाभ होनेवाला नहीं। ज्ञान को वास्तविक होना चाहिए। बहुत सी ऐसी बातें हैं, जो जटिल होती हैं और कोई उन्हें तब तक नहीं समझ पाता जब तक वे किसी ज्ञाता द्वारा न बताई जायें। वैदिक ज्ञान को जानना भी कठिन है। उसे उपर्युक्त प्रणाली से सीखना चाहिए, अन्यथा वह समझ में नहीं आता।

अतएव शुकदेव गोस्वामी ने भगवान् से कृपा करने के लिए प्रार्थना की, जिससे वे उनके द्वारा ब्रह्मा को प्रत्यक्ष कहे गये सन्देश को या ब्रह्मा ने जो कुछ नारद से कहा, उसे दुहरा सकें। अतएव शुकदेव गोस्वामी द्वारा वर्णित सृष्टि-विषयक कथन सैद्धान्तिक नहीं हैं, जैसाकि कुछ संसारी कहते हैं, अपितु पूर्ण रूप से सत्य हैं। जो इन सन्देशों (कथाओं) को सुनता है और आत्मसात् करने का प्रयास करता है, वह भौतिक सृष्टि-विषयक पूरी-पूरी जानकारी प्राप्त कर लेता है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के द्वितीय स्कंध के अन्तर्गत “सृष्टि का प्रक्रम” नामक चतुर्थ अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।